मायावादी की तरह केवल मध्यस्थ का कहा हुआ अनुवाद है।

किन्तु जो विश्व का मूल है वह बाहर के विषयों में (पदार्थों) में नहीं है क्योंकि भगवान् मायातीत हैं, किन्तु बुद्धि से उत्पन्न जो माया रूप विषमता है वह ही मध्य में स्फुरित होती है[1] इस कारण से इस शास्त्र में दो ही सुखी हैं–(१) जो ज्ञानी हैं और (२) जो सङ्कटरहित हैं, वे दो निम्न श्लोक में कहते हैं ॥१५॥

श्लोक––यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१६॥

श्लोकार्थं––जो अत्यन्त मूर्ख है और जो पूर्ण ज्ञानी है, ये दो ही लोक में सुखी रहते हैं, एवं जो न मूढ़ है और न पूर्ण ज्ञानी है वह मध्य में लटका हुआ दुःख भोगता है ॥१६॥

सुबोधिनी–**यश्च मूढतम इति** । यस्तु ज्ञानार्थं सर्वथा न प्रवृत्तः, स लोकन्यायेन वर्तमानो मायापगमार्थमेव यत्नं कुर्वन् भगवत्कृपया तदपगमे पश्चात्सर्वमेव निःसंदिग्धं जानाति । अथवा, सद्गुरुणा कृत्वा, भगवत्कृपया सहितो व्यामोहितां बुद्धिं त्यक्त्वा, **बुद्धेः पर गतः** स्वरूपे स्थितः, पूर्वमेव निवृत्तानर्थत्वात् सुखमवतिष्ठते । अन्तरितो मध्ये स्थितस्तु अल्पज्ञानाल्पभक्तिर्निर्द्धारयितुमभावात्, एकतरज्ञानाश्रयाभावाच्च नौकाद्वयारूढवत् क्लिश्यति । लौकिकमूढपक्षे उभयोः समानसुखकथनं विरुद्धमापद्येत, न वा मूढानां सुखमस्ति ॥ १६ ॥

व्याख्या– जिसने ज्ञान प्राप्ति के लिये थोड़ी भी प्रवृत्ति नहीं की है, वह लौकिक की तरह से रहते हुए भी माया को मिटाने के लिये प्रयत्न करता रहता है। उस पर जब भगवत्कृपा होती है तब उसकी माया निवृत्त हो जाती है, अनन्तर सबको ही सन्देह रहित जान लेता है, अथवा सद्गुरु की प्राप्ति होने से उस गुरु द्वारा भगवत्कृपा होते ही वह व्यामोहिका, माया को त्याग कर बुद्धि से ऊपर जो वस्तु आत्मस्वरूप है उसमें स्थित हो जाता है, अर्थात् पहले ही अनर्थ (माया) के निवृत्त हो जाने से सुख का भोग करता है।

मध्य में स्थित अर्थात् ज्ञान एवं भक्ति थोड़ी है जिसका वह निर्णय नहीं कर सकता है कि मैं कौनसे मार्ग का आश्रय करूँ कभी भक्ति, कभी ज्ञान को अपनाता है वह दो नौका में अपने पाँव

प्रकाश—[1] यह अन्य मत कहा है।

रखने वाले के समान दुःखी होता है, यहाँ लौकिक मूढ़ लिया जावे तो दोनों को समान सुख है यों कहने में विरोध आता है, फिर मूढ़ लोगों को तो आनन्द होता ही नहीं है ॥१६॥

आभास—एवं शास्त्रार्थं निरूप्य, स्वस्य किञ्चिज्जातं किञ्चिच्च नेति तदुभयमनुवदति—

आभासार्थ—इसी तरह शास्त्रार्थ का निरूपण कर अपने को कुछ लाभ हुआ और कुछ न हुआ यों दोनों को निम्न श्लोक में कहता है—

श्लोक—**अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्याऽप्यनात्मनः ।**
तां चाऽपि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे ॥१७॥

श्लोकार्थ—यह जगत् जड़ देखने में आता है किन्तु यह स्थिति वास्तविक नहीं है यह निश्चय कर आपके चरणों की सेवा से इस दृश्य को भी नष्ट करूँगा ॥१७॥

सुबोधिनी—**अर्थाभावमिति** । शास्त्रतः प्रतीयमानस्याऽथस्वरूपं नास्तीति सूचितम् । **'आत्मैवेदं सर्वम्'** इति श्रुतेरनात्मनोऽर्थाभावः सिद्धः । अतःपरं प्रतीतिरस्ति, विषयबाधा निवृत्ताः **तामपि** प्रतीतिं **युष्मच्चरणसेवया** गुरुचरणसेवया **अहं पराणुदे**। यद्यपि स्वभावतो गुरुर्नोपदिशति, तथापि सेवायां क्रियमाणायां तद्धर्मेण तदुपदेशेन वा तत्स्पर्शो भविष्यतीति तामप्यपनुदे दूरीकरिष्यामि, ज्ञानमार्गानुसारेणैवाऽर्धस्य निवृत्तत्वात्; अन्यथा भगवच्चरणसेवयैव तां दूरीकुर्यात् । **अहमिति** स्वाधिकारः, तथैव भगवदाज्ञापनात्; अन्यथा भक्तिमार्गानुसारेणैव दूरीकुर्यात् । अधिकारश्च पुनः प्राप्तव्यः ॥१७॥

व्याख्या—यह स्वरूप जो प्रतीयमान हो रहा है वह वास्तविक स्थितिवाला नहीं है ऐसा शास्त्र ने सूचित किया है 'आत्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति ने कहा है कि अनात्मा जगत् वास्तविक नहीं है किन्तु ब्रह्म का ही वास्तविक सद्रूप सिद्ध है, अनन्तर इसकी जड़रूप से जो प्रतीति हो रही है। विषय (पदार्थ) समझने से, जो दुःख होता था वह दूर हुआ। शेष रही हुई प्रतीति को भी आप गुरु के चरणों की सेवा से मिटा दूँगा। हालाँकि गुरु अपने आप उपदेश नहीं देते हैं, तो भी मैं सेवारूप धर्म से अथवा सेवा के बाद प्राप्त उपदेश से, तात्पर्य को प्राप्त कर माया से होने वाली प्रतीति को भी दूर कर दूँगा। आधी प्रतीति तो ज्ञानमार्ग के अनुसरण से निवृत्त हो गई भासती है, नहीं तो भगवच्चरणों की सेवा से ही उस सम्पूर्ण को दूर कर दूँगा, 'अहं' पद से यों करने में अपना अधिकार दिखाया है कारण कि ऐसी ही भगवदाज्ञा है नहीं तो भक्ति मार्गानुसार कर्त्तव्य (सेवादि) से ही उसको नष्ट करूँगा और अधिकार फिर प्राप्त करना चाहिये ॥१७॥

आभास—किञ्च, भगवन्मार्गेऽपि गुरुसेवा भक्त्युपयोगिनी । तदाह—

आभासार्थ—भगवन्मार्ग में भी गुरु सेवा, भक्ति की प्राप्ति कराने में उपयोगी होती है—यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।**
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिनकी सेवा से मधुदैत्य के द्वेषी, कूट की तरह स्थिर अर्थात् विकारादि क्रिया से रहित भगवान् के चरणों में व्यसनों को नाश करने वाला तीव्र रतिरास होता है ॥१८॥

सुबोधिनी—**यत्सेवाया भगवत इति** । मार्गत्रयाविरोधाय भगवतो विशेषणत्रयम्, अन्यथा गुरुसेवाभावे मार्गान्तरविरोधे न भवति भक्तिः स्यात् । तत्र **भगवत इति** भक्तिमार्गानुसारी भगवान् **कूटस्थस्येति** ज्ञानमार्गानुसारी, **मधुद्विष** इति दैत्यद्वेषी । सर्वेषामेव सुमनसाम्, देवानां पुष्पाणां वा, मधु गृहीत्वा, स्वमुखेन तद्वमित्वा, निष्पादितं मधु भवति; तथा सर्वदेवानां बलं गृहीत्वा, दैत्यैः स्वभावं तत्र संपाद्य, सर्वधर्मप्रतिपक्षतया ब्रह्मघातको निर्मितो मधुः । कैटभस्तु ज्ञानांशबाधकः, अत एव कपिलेन **'कैटभार्दनः'** इत्युक्तम् । तादृशस्य भगवतः । **रतिरासो भवेत्** रतिविलासो भवेत् । विलासपदेन चरणस्य वशीकरणं सूचितम् । रतीनां वा बहुविधानां सर्वेन्द्रियविषयाणां रासो रससमूहः । **पादयोरिति** अवताराभिप्रायेण । लौकिकोऽपि व्यामोहो गच्छतीति—**तीव्र इति** । शीघ्रमेव तलं स्पर्शयति । अवान्तरखेदास्तु तस्याऽऽनुषङ्गिका इत्याह—**व्यसनार्दन इति** । व्यसनानि लौकिकानि विचित्राण्यर्दयतीति तस्य विशेषणम् । अतो व्यसननिवृत्ती रासस्यानुषङ्गिकी । अतो मार्गद्वयसाधकत्वात् गुरुसेवा सर्वेषामेव हितकरी ॥१८॥

व्याख्या—भगवान् के तीन विशेषण देने का आशय है कि कर्म ज्ञान और भक्ति इन तीनों ही मार्गों का गुरु सेवा करने में विरोध नहीं है, यदि इन श्रेय करने वाले तीनों ही मार्गों का विरोध होवे तो गुरु सेवा न बन सके जिससे भगवान् में भक्ति उत्पन्न ही न होगी । 'भगवन्' नाम देने से यह बताया है कि प्रभु भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाले हैं । 'कूटस्थस्य' पद से प्रभु ज्ञानमार्गानुसारी हैं यों बताया, मधु (मधुदैत्य) के द्वेषी विशेषण से बताया कि प्रभु कर्म मार्गानुसारी हैं जैसे मधुमक्षिका सब पुष्पों का रस चूँस फिर मुख से वमन करती हैं तब वह रस 'मधु' (शहद) बनता है वैसे ही भगवान् ने सकल देवरूप पुष्पों से उनका रस अर्थात् बल ग्रहण कर उस बल में दैत्यों से उनका स्वभाव डलवाकर वह बल बाहर प्रकट किया तब वह बल, धर्मों का विरोधी ब्रह्मघातक

दैत्य 'मधु' नाम से प्रकटा कैटभ तो केवल ज्ञानांश का विरोधी था, इसी कारण से कपिल ने भगवान् का नाम 'कैटभार्दन' कहा है, वैसे भगवान् के चरणों में रतिरास अर्थात् रति के विलास हो, विलास अर्थात् रास (रससमूह) पद से चरणों के वशीकरण का सूचन किया है 'रास' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियों के सर्वप्रकार के विषयों का जो आनन्द प्राप्त करने के लिये विलास से उत्पन्न रससमूह वह 'रास' है। 'पादयोः' पद अवतरित (अवतारी) भगवान् के अभिप्राय से कहा है। 'तीव्र' पद से यह बताया है कि इससे लौकिक व्यामोह नष्ट होता है क्योंकि यह शीघ्र ही तल (तात्पर्य) का स्पर्श कराता है अर्थात् जल्दी ही पूर्ण भाव समझा देता है—दूसरे मध्य के दुःख तो आनुषङ्गिक (प्रासङ्गिक) हैं जिससे वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं। इसलिए 'व्यसनार्दनः' विशेषण दिया है, लौकिक विचित्र व्यसनों को नाश करता है, अतः व्यसनों की निवृत्ति रास का आनुषङ्गिक फल है, अतः ज्ञान और भक्ति दोनों को प्राप्त कराने वाली गुरु सेवा सर्व का हित करने वाली है ॥ १८ ॥

आभास—तर्हि कथं न सर्वे कुर्वन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यदि यों है तो सब गुरु सेवा क्यों नहीं करते हैं? इस शङ्का पर निम्न श्लोक कहते हैं—

श्लोक—दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—जहाँ नित्य देवों के देव जनार्दन भगवान् की सेवा हो रही है अर्थात् जो नित्य भगवान् की गुणगानादि सर्वप्रकार की सेवा कर रहे हैं वैसे वैकुण्ठ (भगवान्) के पास पहुँच जाने का मार्ग बतानेवालों (गुरुओं) की सेवा थोड़े तप वालों को मिलनी कठिन है ॥१९॥

सुबोधिनी—दुरापेति । अल्पं तपो येषाम्, तेषां वैकुण्ठवर्त्मसु सेवा दुरापा—दुःखेन प्राप्तुं शक्या। दुर्लभत्वायैकवचनम्। भगवद्भक्तानां माहात्म्यप्रतिपादनाय **वैकुण्ठवर्त्मस्विव** त्युक्तम्। वैकुण्ठस्य मार्गभूतेषु। व्यापिवैकुण्ठस्य भगवतो वा। तन्मार्गे गतस्तत्र गच्छतीति तेषां वैकुण्ठामार्गत्वं स्थापयति—**यत्रोपगीयते नित्यमिति** । **यत्र** भगवद्भक्तेषु भगवान्नित्यमेवोपगीयते। अनेन क्रमात्तत्र गमनं सूचितम्। भगवद्गुणाः पुष्पाणां गन्धा इव भगवन्मार्गे सभायान्ति; **अत** एव तेषामुपगानम्, हृदये स्थितानां **तत्रैवोल्लसितानां** गानम्। उल्लासाधिक्येन **मार्गनैकट्यम्**। नित्यमुल्लासाद्वायुनेव श्रुत्या दूरे नयनं निराकृतम्। किञ्च, स हि देवानां देवो देवोपरि वर्तते। अतो देवमार्गापेक्षया यज्ञापेक्षयाऽप्ययं मार्गः समीचीनः। किञ्च, **नार्दनोऽयम्**, जनामर्दयतीति ज्ञानकार्यकर्ता अतोऽचेतननिवर्त्तकापेक्षया ज्ञानमार्गापेक्षयाऽपि भगवद्गुणगातृणां सेवनमुत्तममित्यर्थः ॥१९॥

व्याख्या—जिन्होंने अल्प तपस्या की है उनको वैकुण्ठ (भगवान्) के मार्ग को बताने वाले सद्गुरुओं की सेवा प्राप्त होना दुर्लभ है। दुःख, (परिश्रम) से प्राप्त होती है। इसलिए 'सेवा' पद एक वचन दिया है भगवद्भक्तों का माहातम्य बताने के लिये 'वैकुण्ठ वर्त्मसु' पद दिया है। व्यापि वैकुण्ठ भगवान् के वे (गुरु) मार्ग श्रुत हैं, मार्ग बताने वाले हैं, अतः उनके बताये मार्ग पर जो चलता है वह भगवान् को प्राप्त कर सकता है, वे ही भगवत्प्राप्ति के मार्गरूप हैं। भगवद्भक्तों के पास सदैव (नित्य ही) भगवद्गुणगानादि होता रहता है। इससे यह सूचित किया है कि भगवत्प्राप्ति की कामनावाले वहाँ नित्य क्रमपूर्वक जाते हैं, भगवान् के गुण वहाँ (सत्संग में) पुष्पों की गंधवत् आ जाते हैं अतएव गुणों का वहाँ गान होता है, भगवान् के गुणों का नाम वे करते हैं जिनके हृदय में स्थित हैं एवं वहाँ ही प्रफुल्लित हुए हैं। गुणगान से जिनको नित्य अधिक उल्लास होता है वे ही मार्ग के निकट पहुँचे हुए समझने चाहिये, नित्य उल्लास कहने का अभिप्राय है कि जैसे वायु पुष्प को उड़ाकर दूर ले जाती है वैसे श्रवण गुणगान को दूर न लेजाकर वहाँ (सत्संग तथा हृदय में ही) स्थिर करता है।

किन्तु, वह जनार्दन भगवान् देवों के देव होने से सब देवों से श्रेष्ठ हैं, इसलिए देवमार्ग एवं यज्ञ की तुलना में इनका मार्ग सुन्दर है, विशेष में ये जनार्दन होने से अविद्या का नाशकर ज्ञान प्रकट करते हैं, अतः अचेतन (जड़ या अज्ञान) के निवर्त्तक ज्ञानमार्ग से भी भगवद्गुणगान करने वालों की सेवा उत्तम है ॥१९॥

आभास—एवं पूर्वपक्षसिद्धान्तपक्षौ निरूप्याऽन्यान् ज्ञातुं पृच्छति—

आभासार्थ—इसी तरह पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों का निरूपण हुवा जानकर, अन्य विशेष भगवद्गुणों को जानने के लिये पूछता है—

श्लोक—**सृष्ट्वाऽग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।**
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥२०॥

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् ।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं समासते ॥२१॥

श्लोकार्थ—प्रथम विकार सहित महत् तत्व आदि क्रमशः उत्पन्न कर उनसे विराट् को बाहर निकाल, उसमें आप समर्थ प्रभु प्रविष्ट हुए, जिसके सहस्र चरण, सहस्र उरु और सहस्र भुजाऐ हैं, वे आद्यपुरुष कहलाऐ, जिसमें ये विश्व तथा लोक (प्राणी) विशाल भूमि में सुख पूर्वक रहते हैं ॥२०-२१॥

सुबोधिनी—सृष्ट्वाऽग्रे **महदादीनीति** । तत्राऽऽदौ श्लोकद्वयेन सार्द्धेन साधिकेन पूर्वोक्तमनुवदति, अन्यथोक्तार्थविस्मरणादग्रे न वक्तव्यं स्यात् । निर्द्धारितं चाऽल्पेनोच्यते । **महदादीनि** त्रयोविंशाततत्त्वानि । तेषां विकारास्त्ववान्तरभेदाः, सात्त्विकादिविभेदा आध्यात्मिकादिभेदा वा । आनुपूर्व्येण च तेषां सृष्टिः । तेभ्यो विराज उद्धरणं च पुरुषस्य सारांशत्वाय । **तमनु प्राविशदिति** । अर्थान्निरूपितमनुवादेन स्पष्टितम । तत्प्रवेशव्यतिरेकेण ब्रह्माण्डमध्यकार्याणि न भवेयुः । **विभुरिति** सामर्थ्यरूपेण ।२०।।

व्याख्या—इस विषय में प्रारम्भ में जो कुछ दो (पोने तीन) श्लोकों मे कहा था उसका फिर अनुवाद करते हैं अर्थात् उसे दोहराते हैं यदि यों न करें तो कहा हुआ भूल जाने से आगे जो कहना हो वह न कहा जा सके क्योंकि वह समझ में न आयेगा अतः निर्द्धार (निश्चित) किया हुआ विषय थोड़े में ही कहा जाता है, महदादि २३ तत्व उनके विकार और अवान्तर भेद, तथा सात्विक आदि भेद और आध्यात्मिक आदिभेद और उनकी क्रमानुसार सृष्टि फिर उनमे विराट् को बाहिर निकालना, कारण कि पुरुष उत्तम अंग है, अनन्तर उसमें प्रवेश करना । इस प्रकार फिर कहने का आशय है कि जो प्रथम निरूपण किया है उसकी स्पष्टता कर समझाना, उस विभु की सामर्थ्य रूप से प्रवेश हुए बिना ब्रह्माण्ड में जो कार्य होने चाहिए वे न हो सकते ।।२०।।

सुबोधिनी—भगवत्सहितस्य विराजो नाम–**आद्यं पुरुषमिति** । अस्मदाद्यपेक्षया आद्यत्वम् । **सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकमिति** । यद्यपि प्रचरद्रूपेण पूर्वाध्याये नास्ति, तथापि पुरुषस्य तथारूपत्वात् तद्धर्मत्वेनाऽनुवादः । स्वस्य सविशेष परिज्ञानार्थं भगवत्कृपया वा धर्मान्तरस्फुरणम्, तदपि गुरुत्वेनैव ज्ञापयितुमनुवाद क्रियते । **यत्र** च पुनः पुरुषे, **इमे विश्वे लोकाः** सर्वे प्राणिनः **सविकाशमतिविशालभूमौ** सुखमासते ।।२१।।

व्याख्या—भगवत्सहित विराट का नाम 'आद्य पुरुष' है, अपने आदि जो पुरुष हैं उन सबसे वह आद्य (मूल पुरुष) है, हालांकि आगे के अध्याय में प्रचलन (घूमना फिरना) रूप से स्पष्ट वर्णन नहीं किया है तो भी पुरुष का यह रूप ही होने से उस गुण (धर्म पन से अनुवाद किया है, अपने को (विदुर को) विषय सहित पूर्ण ज्ञान होवे तदर्थ भगवत्कृपा से अन्य धर्मों (गुणों) की भी स्फूर्ति हुई है, हालांकि वे गुरु मैत्रेय ने नहीं बताये तो भी, गुरु ने जो ज्ञान दिया उससे ही वे स्फुरित हुए हैं अतः फिर जिस पुरुष में ये विश्व अर्थात् सर्व प्राणी मात्र विशाल भूमि में सुख पूर्वक रहते हैं ।।२१।।

आभास—किञ्च,

आभासार्थ—और विशेष ।

श्लोक--**यस्मिन्दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।**
त्वयेरिता यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥२२॥

श्लोकार्थ--जिसमें इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के अर्थ और दश विध प्राण रहते हैं ये तीन प्रकार के कहे हैं, जिसमें से वर्ण भी उत्पन्न हुए (ऐसे) आपने कहे हैं अब उसकी विभूति हमको कहो ॥२२॥

सुबोधिनी—यस्मिन् पुरुषे **दशविधः प्राणो** निरूपित. । इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थाश्च निरूपिता, इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थानां प्राणानां च त्रैविध्य निरूपितम्, यतो वर्णा अपि त्वया निरूपिताः। एवमनूद्य विशेषं पृच्छति। इदं भगवच्चरित्र भगवद्रूपं च तदैव स्यात्, यद्यस्य विभूतिर्भवेत् । भगवतोऽसाधारणगुणेषु विभूतिरप्येका। कथा-पक्षेऽप्यग्रे वक्ष्यमाणानां ब्रह्मादीनां न विसर्गत्वं विवक्षितम्, किन्तु विभूतित्वमेव। तेन सविभूतिः सर्गो निरूपितो भवति। विसर्गस्तु धर्माद्युक्तोऽग्रे वक्ष्यते। व्यष्टिष्वपि समष्टिव्यष्टिभेदः परिकल्प्यते । तत्र ब्रह्मा समष्टिः, प्रजा व्यष्टयः ॥२२॥

व्याख्या—जिस पुरुष में दश प्रकार के प्राणों का निरूपण किया हुआ है यों इन्द्रियाँ और इन्द्रियों का अर्थ (विषय) और प्राणों की त्रिविधता कही है जिससे वर्णों की उत्पत्ति का होना भी आपने कहा इस प्रकार कहे हुए का अनुवाद कर (दोहरा कर) विशेष पूछता है—

यह भगवान् का चरित्र और भगवद् रूप तब हो सकता है जबकि यह विभूति होवे, भगवान् के असाधारण गुणों में विभूति भी एक गुण है, कथा पक्ष में भी आगे जो कहे जायेंगे। ब्रह्मा आदि उनका विसर्गत्व विवक्षित[1] नहीं है किन्तु विभूतिपन ही है, इससे विभूति सहित सर्ग निरूपण किया हुआ है। धर्म आदि सहित विसर्ग तो आगे कहा जाएगा। व्यष्टियों में भी समष्टि[2] व्यष्टि[3] भेद की कल्पना की जाती है जैसे व्यष्टियों में ब्रह्मा व्यष्टियो का समूह है और प्रजा व्यष्टियाँ हैं ॥२२॥

आभास--प्रजानां कर्तृत्व कदाचिन्न भविष्यतीति **तदर्थं** प्रथमतस्ताः पृच्छति--

आभासार्थ—प्रजाका कर्तापन कदाचित् न होगा तो इसलिए प्रथम ही उसके ज्ञानार्थ प्रजासम्बन्धी प्रश्न करते हैं—

श्लोक--**यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजः ।**
प्रजा विचित्राकृतय आसन् योभिरिदं ततम् ॥२३॥

१-इच्छित २-समूह ३-व्यक्ति

श्लोकार्थ--विभूतियों में पुत्र, पौत्र और पड़पोते तथा गोत्रवाले आदि विचित्र (जुदो-जुदी) आकृति वाली प्रजाएं उत्पन्न हुई जिनसे यह जगत् व्याप्त हो गया (भर गया) ॥२३॥

सुबोधिनी—यत्रेति। सर्वत्र चत्वारो भेदा विभूत्यर्थं वक्तव्याः। **नप्तारः** प्रपौत्राः, कन्यापुत्रा वा। पुत्राशब्दे पुत्र्या एकवद्भावः, पौत्रे च पौत्र्याः, एतदुभयं नप्ता सूचयति। **गोत्रजा** दूरज्ञातयः ॥२३॥

व्याख्या—विभूति के ज्ञानार्थ सर्वत्र चार भेद कहने चाहिये 'नप्तृ' पद से परपोते तथा दौहित्र समझने एवं पुत्र शब्द से पुत्री भी समझनी क्योंकि पुत्र शब्द में एकवद्भाव है इसी तरह पौत्र शब्द से पौत्री भी जान लेनी, इस प्रकार का अर्थ (भाव) नप्ता पद से सूचित होता है। गोत्रज पद से दूर के कुटुम्बी समझने चाहिये ॥२३॥

श्लोक--**प्रजापतीनां स पतिश्चकल्पे कान्प्रजापतीन्।**
सर्गांश्चैवाऽनुसर्गांश्च मनून्मन्वतराणि च ॥२४॥

श्लोकार्थ- प्रजापतियों के उस पति ने कौन से प्रजापति, सर्ग और अनुसर्गों को तथा मनुओं एवं मन्वन्तरों को उत्पन्न किया ॥२४॥

सुबोधिनी—**प्रजापतीनामिति**। **सर्गाः** कारणपदार्थानामुत्पत्तयः। **अनुसर्गाः** कार्याणाम्। मनवश्चतुर्दश। **मन्वन्तराणि** षड्विधानि ॥२४॥

व्याख्या 'सर्ग' पद से कारण पदार्थों की उत्पत्ति कही है। 'अनुसर्ग' पद से कार्य पदार्थों की उत्पत्ति कही है। मनु १४ हैं और मन्वन्तर ६ प्रकार के हैं ॥२४॥

श्लोक--**एतेषामपि वंशांश्च वंश्यानुचरितानि च।**
उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजाऽऽस्ते ॥२५॥

श्लोकार्थ--हे मित्र के आत्मज ! इनके भी जो वंश और वंशों के अनुचरित्र भूमि के ऊपर एवं नीचे जो लोक है ॥२५॥

सुबोधिनी—**एतेषामिति**। एतेषां मनूनाम्। **वंशानुचरितम्** तत्रो पन्नानां वंशवृद्धिहेतुचरित्रम् **चकारादन्यान्यपि** चरित्राणि। **भूमेरुपरि** स्वर्गादयो लोकाः कियन्तः ? अधश्च कियन्तः ? इति। **आसत** इति स्थिरा औत्पत्तिकाः। **मित्रात्मजेति** बहुप्रश्नेऽपि क्षोभाभावः सूचितः ॥२५॥

व्याख्या—इन मनुओं के वंश में उत्पन्नों के वंश की वृद्धि के कारणरूप चरित्र 'च' पद से अन्य चरित्र भी, भूमि के ऊपर स्वर्ग आदि लोक कितने हैं और भूमि के नीचे कितने हैं? वे उत्पत्ति से ही स्थिर हैं, मित्रात्मज! सम्बोधन से यह बताया है कि आप धैर्यवान हो जिससे बहुत प्रश्नों के होने से आपको क्षोभ नहीं होता है ॥२५॥

श्लोक—**तेषां संस्थां प्रमणं च भूर्लोकस्य च वर्णय।**
तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृन्मृगपक्षिणाम् ॥
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदाण्डजोद्भिदाम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—उनके तथा भू-लोक की स्थिति एवं प्रमाण का भी वर्णन करो, क्षुद्रजन्तु, मनुष्य, देव, सर्प, पशु पक्षी की उत्पत्ति का एवं गर्भ से, पसीने से, अण्डों से तथा बीज के अङ्कुरों से उत्पन्न होने वाले आदि सर्ग समूह का वर्णन कर हमको बताओ ॥२६॥

सुबोधिनी—**तेषामिति**। **तेषां** लोकानां **संस्थां** मर्यादाम्, केषु लोकेषु के व्यवहारा इति। **प्रमाणं** परिमाणम्। चकारात्तत्यानामपि व्यवस्थाम्, उपर्यधोलोकानामेव पृष्टत्वात्। प्रधानभूतं भूर्लोकं पृच्छति—**भूर्लोकस्येति**। भूर्लोकस्य संस्था प्रमाणं चेत्यर्थः। चकारादवान्तरभेदानाम्। जीवानां योनिभेदान् पृच्छति—**तिर्यंगिति तिर्यङ्मानुषदेवास्तामसराजससात्त्विकाः**। सरीसृपमृगपक्षिणोऽपि द्वितीयकक्षायां तामसादयः। तेषां सर्गाणां सम्यग्व्यूहः समूहः, के कियन्तः कुत उत्पन्ना इति। चतुर्विधा अपि भूतभेदा वक्तव्या इत्याह-**गार्भेति**। गर्भे भवा गार्भा जरायुजाः, जरायुशब्देन वा गर्भ उच्यते। **स्वेदजा** मशकादयः, **अण्डजाः** पतङ्गादयः, **उद्भिज्जा** वृक्षादयः। स्वेदजादीनां स्वेदत्वं मन्यमानः स्वेदादिशब्दैरेव तज्जान् पृच्छति ॥२६॥

व्याख्या उन लोगों की व्यवहार पद्धति (मर्यादा) कैसी है? एवं प्रमाण (परिमाण या नाप) किस प्रकार का है 'च' पद से वहाँ के निवासियों की व्यवस्था कैसी है वह भी कहिये, यह प्रश्न ऊपर के और नीचे के, दोनों लोकों के लिये हैं।

अब मुख्य पृथ्वी लोक की संख्या (मर्यादा) और प्रमाण (परिमाण) पूछते हैं 'च' पद से अवान्तर भेदों को भी पूछा है।

'तिर्यङ्' पद से क्षुद्र जन्तु, सरीसृप, (रेंगने वाले जैसे सर्पादि) मृग पक्षी आदि भी एवं तामसादि भी द्वितीय कक्षा में जो गिने जाते हैं, इस प्रकार के सर्गों के समूह, कितने हैं कहाँ कैसे उत्पन्न हुए? चतुर्विधभूतों के जो भेद हैं वह भी कहिये जैसे कि १–'गार्भ' गर्भ से उत्पन्न होने वाले

'जरायुज' जरायु शब्द से गर्भ कहा जाता है २-पसीने से उत्पन्न मद्रुण वा मशकादि ३-'अण्डजः' अण्डे से उत्पन्न पतंग आदि 'उद्भिज' वृक्ष आदि, स्वैदज (पसीने से पैदा होने वाले) ही मान कर विदुर स्वेदादि शब्द से उनसे उत्पन्नों के विषय में प्रश्न करते हैं ॥२६॥

श्लोक--**गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् ।**
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥२७॥

श्लोक--**वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।**
ऋषीणां जन्मकर्माणि वेदस्य च विकर्षणम् ॥२८॥

श्लोकार्थ--गुणावतारों द्वारा विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय करने वाले लक्ष्मी के धाम (भगवान्) के उन उदार पराक्रमों को कहिये जो उनने सृष्टि की रचना करते हुए किये हैं ॥२७॥

श्लोकार्थ--रूप, शील और स्वभावानुसार, वर्ग और आश्रमों के विभाग तथा ऋषियों के जन्म प्रकार एवं कर्म और वेद के विभाग बताइये ॥२८॥

सुबोधिनी—गुणावतारैरिति । ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैर्विश्वस्य **सर्ग** उत्पत्तिः **स्थितिः**, **अप्ययो** नाशः । उत्पत्त्यादीनामाश्रयम्, कृतिं भावं वा । ब्रह्माण्डरूपमाधारमिति केचित् । **सृजतः श्रीनिवासस्येति** । मूलकारणं विष्णुरुक्तः । **श्रीनिवासस्येति** ब्रह्मानन्दपूर्ण उक्तः । तस्योदारविक्रमा अवतारचरित्राणि । प्रकीर्णकानामेतेषां प्रश्नानां भगवद्विभूतिभेदार्थं कीर्त्तनम् । वर्णानां विभागश्चतुर्द्धा, आश्रमाणां च । अष्टानामपि रूपशीलस्वभावा भिन्नतया वक्तव्याः । रूपमाकृतिः, शीलमाचारः, स्वभावोऽन्तःकरणधर्मः । **ऋषीणां** भृग्वादीनां । **जन्म** उत्पत्तिप्रकारः, **कर्म** मन्त्रद्रष्टृत्वादि । **वेदस्य विकर्षणं** शाखाभेदेन विभागः ॥२७-२८॥

व्याख्या—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव से उत्पत्ति स्थिति और प्रलय, उत्पत्ति आदि का आश्रय, कृति (क्रिया) वा भाव जो (भगवान्) है उसके पराक्रम कहिये, एवं ब्रह्मानन्दपूर्ण मूल कारण विष्णु है वह श्रीनिवास पद से सूचित किया है उसने विश्व रचकर जो-जो उदार पराक्रम (अवतार चरित्र आदि) किये उनका वर्णन कीजिये ।

प्रकीर्ण इन प्रश्नों का भगवान् की विभूतियों के भेद जानने के लिये कीर्तन करना।

वर्णों के और आश्रमों के चार चार प्रकार के भेद इन आठों के (वर्ण ४ और आश्रम ४ = ८) रूप, शील और स्वभाव जुदे-जुदे समझाकर कहिये, रूप का तात्पर्य आकार से है, शील से आचार,

स्वभाव से उनके अन्तःकरण के धर्म पूछे हैं, ऋषि पद से भृगु आदि की उत्पत्ति का प्रकार, उनके कर्म मन्त्र दृष्टापन, वेद का विकर्षण अर्थात् वेद के विभाग (ये सर्व क्रमशः स्पष्ट कर कहिये) ॥२७-२८॥

श्लोक—**यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ! ।**
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं भागवतं स्मृतम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! यज्ञ के प्रकारों के भेद, योग के मार्ग निवृत्ति मार्ग शाङ्ख्यशास्त्रस्मृतियों में प्रमाण माना गया भगवत्तन्त्र अर्थात् वैष्णवतन्त्र ॥२९॥

सुबोधिनी—**यज्ञस्य** सप्तदशस्य **वितानानि** संस्थाभेदाः। **चकारात्** क्रतुसत्राणाम्। **योगस्य पथः** योगमार्गान्। **चकारादङ्गानाम्। प्रभो !** इति संबोधनं ज्ञानार्थम् **नैष्कर्म्यं** निवृत्तिमार्गः। **साङ्ख्यस्य तन्त्रं** साङ्ख्यशास्त्रम्। **भागवततन्त्रं** वैष्णवशास्त्रम्। **स्मृतमिति** स्मृतिष्विदमेव प्रमाणमिति सूचितम् ॥२९॥

व्याख्या—सप्तदश यज्ञों के प्रकार भेद, 'च' शब्द से क्रतु एवं सत्रों में जो भेद हैं वह, योग के मार्गों को, 'च' पद से उन (योग मार्गों) के अङ्गों को भेद। प्रभो ! यह सम्बोधन देने से यह सूचित किया है कि मैत्रेयजी को सर्व ज्ञान है, 'नैष्कर्म्य' अर्थात् निवृत्तिमार्ग 'साङ्ख्यस्यतन्त्र' अर्थात् साङ्ख्यशास्त्र 'भगवत् तन्त्र' अर्थात् वैष्णव तन्त्र 'स्मृतं' पद से यह सूचित किया है कि तन्त्र रूप स्मृतियों में यह ही प्रमाण है यों कहा है ॥२९॥

श्लोक—**पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।**
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥३०॥

श्लोकार्थ—पाषण्डी मार्गों की विषमता, प्रतिलोमों की उत्पत्ति अथवा उनका शास्त्रोपयोग, जीव की गतियाँ गुण और कर्मों से जितनी तथा जैसी हुई है ॥३०॥

सुबोधिनी—सर्वेष्वपि शास्त्रेषु **पाषण्डपथवैषम्यं** पाषण्डमार्गवैषम्यं वक्तव्यम्। **प्रतिलोमानां** चण्डालादीनां **निवेशनं** शास्त्रोपयोगमुत्पत्तिं वा। **जीवस्य गतयः** संसरणप्रकाराः, स्वरूपतः प्रकारतश्च, गुणतः कर्मतश्च, वक्तव्याः ॥३०॥

व्याख्या—सकल शास्त्रों में जो पाषण्डी मार्गों से विषमता (भेद) है वह कहना चाहिये, प्रतिलोम् अर्थात् चांडाल आदि की उत्पत्ति और उनके लिये शास्त्र का उपयोग कहिये, स्वरूप से, प्रकार से, गुण से और कर्म से जीव की गतियां अर्थात् जन्म लेने के प्रकार कहिये ॥३०॥

श्लोक—धर्मार्थकाममोक्षाणाँ निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्तायां दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥३१॥

श्लोकार्थ—अन्य पुरुषार्थ से विरोध न आवे इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों के साधनों की, वार्ता का, दंड नीति का और वेदाध्ययन के प्रकार पृथक पृथक (कहिये) ॥३१॥

सुबोधिनी— चतुर्विधपुरुषार्थानामन्याविरोधतो निमित्तानि च वक्तव्यानि । **वार्त्तायां** जीविकाया अधिकारिभेदेन नव प्रकारा वक्तव्याः । एवं **दण्डनीतेश्च** । राजधर्माणां **विधिः** प्रकारो वक्तव्यः । **श्रुतस्य** वेदाध्ययनस्य । चकारादङ्गानाम्, अर्थज्ञानस्य वा । **पृथगधिकारिभेदेन**॥३१॥

व्याख्या अन्य पुरुषार्थ से जैसे विरोध न आवे वैसे चारों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) पुरुषार्थ के साधन बतलाइये 'वार्ता' अर्थात् आजीविका के अधिकारी भेद से नव प्रकार हैं वे कहिये, इसी प्रकार दण्ड नीति के अर्थात् राजधर्मों की विधि (प्रकार-नमूने) कहिये। वेदाध्ययन का प्रकार और 'च' से उनके अंगों के अध्ययन के प्रकार अथवा अर्थज्ञान के प्रकार, पृथक्-पृथक् अधिकारी भेद से स्पष्ट कहिये ॥३१॥

श्लोक—श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् ! पित्रृणां सर्गमेव च ।
ग्रहनक्षत्रतारणां कालावयवसंस्थितिम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! श्राद्ध की विधि, पितरों की सृष्टि, ग्रह नक्षत्र और तारा गण ज्योतिश्चक्र में संस्थिति (कहिये) ॥३२॥

सुबोधिनी—**श्राद्धस्यविधिः** प्रकारो वक्तव्यः । **पितृणामपि सर्गो** वक्तव्यः । **ग्रहनक्षत्रतारणां** बुधाद्यश्विन्याद्यन्यन क्षात्राणाम् । **कालावयवे** ज्योतिश्चके सम्यक् स्थितिर्वक्तव्या ॥३२॥

व्याख्या—श्राद्ध करने की विधि (प्रकार) और पितरों की सृष्टि भी कहिये, बुध आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र और तारागण का काल के अवयव रूप ज्योतिश्चक्र में जैसे स्थिति है वह सम्पूर्ण रीति से कहिये ॥३२॥

श्लोक—दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उताऽऽपदि ॥३३॥

श्लोकार्थ—दान का, तपस्या का और यज्ञ तथा पूर्त (कूप धर्मशालादि) आदि का फल, ये सब तथा परदेश में जाने पर जो धर्म पालन किया जाय, वह और आपत्काल में पुरुष को जिस तरह धर्म का पालन करना चाहिये वह भी कहो ।।३३।।

सुबोधिनी—दानादीनां फलं वक्तव्यम्, विधानं च। **वापीत्यनादरे**, य एव भेदास्तवाऽभिप्रेतास्त एव वक्तव्या इति। **इष्टं** यागाद्यग्निसाध्यम्। खातादि मृज्जलसाध्यं **पूर्त्तम्**। **प्रवासस्थस्य** परदेशगतस्य **यो धर्म** इति, पूर्वोक्तो वा संकोच इति। **पुंस आपदि यो धर्मः** ।।३३।।

व्याख्या—दान आदि का फल और उनके करने का विधान भी कहिये, मूल श्लोक में 'वापि' पद देने का तात्पर्य यह है कि इन दानादि के फल एवं विधान के भेदों में जो भेद आपको मान्य हो वे ही कहिये।

यज्ञ' जो अग्नि में होम प्रकार से होते हैं वे सर्व, तथा 'पूर्त' अर्थात् कूप धर्मशाला आदि बनाने 'प्रवासस्थ' परदेश में जाने वाले के 'धर्म' वे ही हैं जो आपने पूर्व कहे हैं अथवा उसमें कुछ संकोच (कमी) करना पड़ता है और आपत्समय में पुरुष का जो धर्म हो वह भी कहिये ।।३३।

श्लोक—**येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।**
संप्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ ! ।।३४।।

श्लोकार्थ—हे निष्पाप ! जिस कर्म से धर्मयोनि जनार्दन भगवान् प्रसन्न होवे और जिन अधिकारियों पर प्रसन्न होते हैं वह मुझे बताइये ।।३४।।

सुबोधिनी—**येन** वा प्रकारेण **भगवांस्तुष्येत्**, धर्मकर्ता ज्ञानदश्च। **तोषस्तस्य** स्वभावतः परितोषः। **प्रसादतीति** वरदानाद्यर्थं सन्तोषेणाऽभिमुखो भवति। **येषां** वा अधिकारिणां भगवान् संतुष्यतीति वक्तव्यम्। **अनघेति** संबोधनं भगवदभिप्रायज्ञानार्थम्। ३४।।

व्याख्या—जिस कर्म से अथवा जिस तरह धर्मकर्ता, अविद्यानाशकर ज्ञानदाता भगवान् प्रसन्न होते हैं (होवे) उनकी (भगवान् की) प्रसन्नता का कारण उनका सन्तोषगुण है, सम्यक् प्रकार से प्रसन्न होते हैं तब सन्तोष से वरदान आदि देने के लिए तैयार होते हैं और जिन अधिकारियों पर प्रसन्न होते हैं वे अधिकारी भी कहिये, अनघ ! यह सम्बोधन देकर विदुर ने यह स्पष्टता की है कि आप (मैत्रेय) भगवान् के अभिप्राय को जानते हैं क्योंकि आप निष्पाप हैं। निष्पापी ही भगवदाभिप्राय को जान सकता है ।।३४।।

आभास--अपृष्टमपि वक्तव्य मित्याह--

आभासार्थ—जो मैंने नहीं पूछा हो वह भी कृपाकर कहिये-य इस श्लोक में कहता है—

श्लोक—**अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।**
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥३५॥

श्लोकार्थ--हे द्विजोत्तम ! गुरु की इच्छानुसार चलने वाले शिष्यों को और पुत्रों को, दीनवत्सल गुरुजन, बिना पूछे हुए विषय भी समझाकर कहते हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—अनुव्रतानामिति। न हि गुह्यं बालाः प्रष्टुं जानन्ति। अनु व्रतं येषाम्, गुरोरच्छानुवर्तिनाम्। **शिष्याणां** शेषभावं प्राप्तानाम्, ज्ञानार्थिनां वा। **पुत्राणां चेति** दृष्टान्तार्थम्। **द्विजोत्तमेति** संबोधनम्, तव पित्रादिभिर्यथा भवान् शिक्षितः, एवं मां शिक्षयेति ज्ञापनार्थम्। **अनापृष्टमपि ब्रूयुरिति** वचने सदाचारः प्रमाणम्। तदपि न बलात्, किन्तु दयया। तदाह-**दीनवत्सला इति** ॥३५॥

व्याख्या—बालक गूढ़ विषय के प्रश्न करना नहीं जानते हैं, गुरु की इच्छानुसार चलने वाले शिष्यों को, जिन्होंने गुरुओं की आधीनता स्वीकार की है अर्थात् गुरु जो कुछ कहे उसे सत्य समझ उसकी पैरवी करने वाले तथा ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाले ऐसे शिष्यों को (उपदेश करना आवश्यक है) 'पुत्राणां' (पुत्रों को) पद दृष्टांत रूप में दिया है, जैसे पुत्रों के बिना पूछे पिता कहता (समझाता) है वैसे गुरु भी, द्विजोत्तम ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि आप जैसे पित्रादि से शिक्षित होने से द्विजोत्तम बने हैं, इसी प्रकार मुझे शिक्षा दीजिये, बिना पूछा हुआ भी कहिये यों कहने से सदाचार प्रमाण है, वह भी न बल से किन्तु दया से इसलिये कहा है कि गुरु दीनवत्सल हैं ॥३५॥

आभास--प्रलयं भिन्नतया वृच्छति--

आभासार्थ—प्रलय को पृथक पूछते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक--**तत्त्वानां भगवन्नेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः ? ।**
तत्रेमं क उपासीरन्क उ स्विदनुशेरते ? ॥३६॥

श्लोकार्थ--हे भगवान् ! इन तत्वों का कितने प्रकार से प्रलय होता है ? वहाँ इनकी कौन उपासना करते हैं और कौन लय को प्राप्त करते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी– **तत्त्वानामेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः** प्रलयः ? चतुर्विधादिभेदाः शास्त्रेषु बहुधा सिद्धा इति । किञ्च, **तत्र** प्रलये इमं भगवन्तं के उपासीरन् ? के वा **अनुशेरते** लीना भवन्ति ? ॥३६॥

व्याख्या—इन तत्वों का प्रलय कितने प्रकार से होता है यह कहिये, क्योंकि शास्त्रों में चार प्रकार आदि भेद बहुत तरह से सिद्ध किये हैं किन्च प्रलय में इन भगवान् की उपासना कौन करते हैं और कौन लीन हो जाते हैं ॥३६॥

श्लोक—**पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वाऽपरस्य च ।**
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—पुरुष और अन्य का नाश एवं स्वरूप कहिए वेद में कहा हुआ ज्ञान तथा गुरु और शिष्य होने का प्रयोजन भी कहिए ॥३७॥

सुबोधिनी—जीवदेहतत्त्वानां मध्ये **पुरुषस्य** विराजः । चकारादन्येषाम् । **संस्थानम्** नाशः **स्वरूपं** च वक्तव्यम् । चकारात् संस्थानविशेषोऽपि । एते त्रयोऽपि भेदाः—अपरस्य च, व्यष्टीनां च; ज्ञानं च वक्तव्यम् । चकाराद्वैराग्यं च । **नैगमं** वेदोक्तम् । गुरुशिष्याणां च आवश्यकत्वे प्रयोजनं वक्तव्यम् ॥३७॥

व्याख्या– जीव और देह तत्वों के मध्य (जीव और देह तत्वों में से) विराट् पुरुष का और 'च' पद से कहे हुए अन्यों का भी नाश तथा स्वरूप बताइए, दूसरे 'च' शब्द कहने का भाव यह है कि स्पष्ट स्थिति भी विशेष प्रकार से कहिए, तीन भेद वाली व्यष्टियों का ज्ञान भी कहना चाहिये 'च' पद से पूछा कि वैराग्य और वेद में कहा हुआ ज्ञान भी कहिये और गुरु तथा शिष्य की आवश्यकता का प्रयोजन भी बत इए ॥३७॥

श्लोक—**निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ ! सूरिभिः ।**
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव च ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे पापरहित ! उस ज्ञान के साधन भी कहिए जो ज्ञानियों ने कहा है और उसकी प्राप्ति के कारण कहो एवं यह भी बताइए पुरुषों को स्वतः ज्ञान, भक्ति और वैराग्य किस प्रकार प्राप्त होता है ॥३८॥

सुबोधिनी—**निमित्तानि च** वक्तव्यानि । **तस्य** ज्ञानस्य । **इह** अस्मिन् देहे, एवंप्रकारे वा । चकाराद्बाधकानि च । **सूरिभिः प्रोक्तानीति** परम्परया सिद्धानि । **अन्येषां** तु पाक्षिकत्वम् । गुर्वाद्यभावे स्वतो वा **ज्ञानं** कथं भवति ? स उपायो वक्तव्यः । तथा स्वतो भक्तिर्वैराग्यं च ॥३८॥

व्याख्या—उस ज्ञान प्राप्ति के साधन कहिए जिन साधनों से यह देह में ही ज्ञान प्राप्त हो जावे तथा इस प्रकार से ज्ञान प्राप्त होगा वह प्रकार (तरीका) भी बताइए और ज्ञान में जो-जो बाधाऐ आती हैं वे भी कहिए परम्परा से प्राप्त अर्थात् जिनको ज्ञानियों ने कहा है वे भी कहिए। दूसरे जो पक्षपाती होते हैं, तथा गुरु के अभाव में स्वतः ज्ञान कैसे होता है, वह उपाय भी कहना चाहिए, इसी तरह भक्ति और वैराग्य भी स्वतः किस प्रकार प्राप्त होता है, जिसका भी उपाय कहिए ॥३८॥

आभास—नन्वेते पदार्था अनुपयुक्ताः किमिति पृच्छ्यन्त इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—ये पदार्थ (प्रश्न) उपयोगी नहीं हैं। इस प्रकार के प्रश्न क्यों करते हैं? इस शंका का उत्तर निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविधित्सया।**
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥३९॥

श्लोकार्थ—मायावी नष्टज्ञान वाले अज्ञानी मैंने जो, कर्मों को हृदय में स्थापन करने के लिये प्रश्न किये हैं उनका उत्तर दीजिए क्योंकि मेरे मित्र (हितेच्छु) हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—**एतान्म इति**। एतान् प्रश्नान् **मे** मह्यं **ब्रूहि**। वचने हेतुः—**हरेः कर्मविधित्सया पृच्छतः**। भगवतः कर्माणि मनसा विधातव्यानि चिन्तनीयानि; विशेषेण धातव्यानि वा—हृदये स्थापनीयानि। **मेऽज्ञस्य मित्रत्वादिति** भिन्नं वाक्यम्। त्वं यद्यपि सर्वेषां मित्रम्, तथापि त्वन्मैत्री तेषां नोपयुज्यत इति मे मदर्थमेव मित्रं भवेत्याह। **अजया नष्टचक्षुषो मेऽज्ञस्य मित्रत्वात् ब्रूहीति** संबन्धः। मोहिन्या मायया मम ज्ञानं नष्टमिति दैन्यम् ॥३९॥

व्याख्या—इन प्रश्नों का (जो मैंने किए हैं उनका) उत्तर मेरे लिए कहिए क्योंकि मैंने ये प्रश्न, भगवान् के कर्मों को हृदय में चिन्तन करने एवं धारण करने के लिए ही किए हैं 'मऽज्ञस्य-मित्रत्वात्' यह वाक्य पृथक है हालांकि आप सबके मित्र हैं तो भी आपकी मैत्री उनके उपयोग में नही आ सकती है इसलिए आप मेरे लिए ही मित्र बनिए, कारण कि माया से मेरे ज्ञान नेत्र नष्ट (बन्द) हो गये हैं अर्थात् इस विषय को मैं देख नही सकता हूं अतः मित्रपन से ज्ञान नेत्र दीजिये यों सम्बन्ध है। मोहिनी माया से मेरा ज्ञान नष्ट हो गया हैं यों कहने से विदुर ने अपनी दीनता प्रकट की है ॥३९॥

आभास—सर्वदानापेक्षया ज्ञानदानमुत्तममिति वक्तुम्, ज्ञानेन जीवस्य भयं गच्छतीति फलतो ज्ञानं स्तौति—

आभासार्थ—सर्व दानों से ज्ञान का दान उत्तम है क्योंकि ज्ञान से जीव का भय मिट जाता है यों फल की उत्तमता से ज्ञान की स्तुति है, यों कहने के लिए निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चाऽनघ ! ।
जोवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे निष्पाप ! सकल वेद, यज्ञ, तपस्या और ज्ञान से जीव को अभय देने वाले की एक कला के समान भी नहीं है ॥४०॥

सुबोधिनी—**सर्वे वेदा इति । सर्वे वेदा** अधीता अध्यापिताश्च, **यज्ञाः** कृताः कारिताश्च । **तपोदानानि** । चकारात् यमनियमादीनि । **अनघेति** संबोधनं वाच्यार्थसंमत्यर्थम् । **जीवाभयदानस्य** ज्ञानस्य कलयाऽपि यत्फलं भवति, तत्सर्वेऽपि मिलित्वा कर्तुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥४०॥

व्याख्या 'सर्वे' पद का भावार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पढ़े हुए वेद और पढ़ाये हुए वेद एवं किए हुए यज्ञ और कराए हुए यज्ञ, तपस्या और दान 'च' पद से यम नियम बताए हैं, अनघ ! यह सम्बोधन देने का आशय है कि इस श्लोक में जो कुछ कहा है उसमें मैत्रेयजी की सम्मति है, जीव को अभय देने वाले ज्ञान की कला से भी जो फल मिलता है वह फल वे उपर्युक्त सब दान मिलाकर भी नहीं दे सकते हैं ॥४०॥

आभास—एवमनेकविधप्रश्ने मैत्रेयस्योत्तरदानार्थं सम्मतिरस्ति नवेति सन्देहे सर्वेषां प्रश्नानां भगवच्चरित्रपत्वं वर्तत इति महादेव हर्षस्तस्य जात इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार अनेक तरह के प्रश्नों के उत्तर देने में मैत्रेयजी की सम्पत्ति है वा नहीं ? इस प्रकार के सन्देह होने पर श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं कि ये सर्व प्रश्न भगवच्चरित्र पर हैं अतः मैत्रेयजी को महान् हर्ष हुआ है जिससे वह उत्तर देंगे—

श्लोक—श्री शुक उवाच—स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां संचोदितस्तं प्रहसन्निवाऽऽह ॥४१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि कौरव मुख्य (विदुर) ने सकल प्रश्न जो किए हैं वे समग्र पुराण से कुछ न्यून हैं, उनसे मुनियों में मुख्य मैत्रेयजी का हर्ष बढ़ गया, उस हर्ष ने मुनि को भगवत्कथा करने की सम्यक्–(पूरी तरह से) प्रेरणा की, जिससे मुस्कराते हुए अर्थात् मुख से अपनी प्रसन्नता प्रकट करते उसको (विदुर को) उत्तर देने लगे ॥४१॥

सुबोधिनी—स इत्थमिति। आ समन्तात् पृष्टः पुराणकल्पो येन। पुराणं कल्पयतीत्येतेषामुत्तरार्थे एकं पुराणं वक्तव्यम्, न तु कथामात्रेण वैतेषामुत्तराणि निरूपितानि भवन्तीत्यर्थः। वक्तृश्रोत्रोत्कर्षमाह–**कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः संचोदित इति। प्रवृद्धहर्षो** भगवत्कथाया वक्तव्यत्वात्। तदेवाऽऽह-**भगवत्कथायामिति**। सम्यक् प्रेरणं सपरिकरप्रश्नात्। **प्रहसन्निवेति** मुखससादः। पुराणकथनप्रसङ्गप्राप्त्या वा अभिनन्दनपूर्वकमाहेत्यर्थः। एवं **भगवतः** सङ्कल्प विकल्पात्मकं मनो निरूपितम् ॥४१।

इति श्रीभागवत सुबोधिन्यां श्री लक्षमण भट्टात्मज दीक्षित विरचितायां
तृतीये स्कन्धे सप्तमाध्याय विवरणम्

व्याख्या—विदुरजी ने ऐसे एवं इसी प्रकार के प्रश्न किये हैं जिनके उत्तर, केवल किसी कथा वा प्रकरण से नहीं दिये जा सकते किन्तु उनके उत्तरार्ध एक पुराण ही बनाना पड़ेगा। 'कुरु प्रधान' तथा 'मुनि प्रधान' पदों से श्रोता एवं वक्ता की उत्कर्षता (श्रेष्ठता) प्रकट की है मैत्रेयजी को हर्ष की वृद्धि इसलिए हुई कि अब मुझे भगवत्कथा के आनन्द पाने का अवसर मिला है, यह 'भगवत्कथायां संचोदितः' पद से बताया है, सम्पूर्ण परिकर सहित प्रश्न करने से पूर्ण प्रेरणा की है 'प्रहसन्निव' मानो मुस्कराते हुए पद से मुख द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं अथवा पुराण कहने का प्रसंग प्राप्त हुआ है। जिससे विदुर का अभिनन्दन करते हुए उत्तर देने लगे एवं भगवान् के सङ्कल्प विकल्पात्मक मन का निरूपण किया ॥४१॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय की
श्री लक्षमणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी
(संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

—

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

भगवत्कृत सर्ग (बन्ध सृष्टि) प्रकरण

"अध्याय"—८

ब्रह्माजी की उत्पत्ति

कारिका - **अष्टमे भगवद्बुद्धिर्यादृशी साऽत्र वर्ण्यते ।**
आधाराधेयरूपाणां तदीयानां तथोद्गमः ॥१॥❀

कारिकार्थ—अष्टमाध्याय में भगवान् की बुद्धि[1] जैसी[2] है वैसी वर्णन की जाती है और उस ज्ञान के विषयों में दोष न आवे तदर्थ उनके आधार एवं आधेय रूप विषयों का प्राकट्य भी कहा जाता हैं ॥१॥

❀ आचार्य श्री अष्टाध्याय का विवरण करते हुए मैत्रेय की उक्ति में उत्तरत्वरूप सङ्गति स्पष्ट होने से और इसका विचार निबन्ध में हुआ है, अतः उसको न कहकर अवसर रूप शास्त्रीय सङ्गति का स्मरण कराने के लिए कारिकाओं द्वारा अध्यायार्थ कहते हैं।

१— विशिष्ट ज्ञान के समान आकारपना 'बुद्धि का स्वरूप लक्षण' है अर्थात् 'ज्ञान शक्ति' स्वरूप लक्षण है, जिसका कार्य, लक्षण ज्ञान उत्पन्न करना है।

२— वह बुद्धि जिस प्रकार सर्ग लीला में उपयोगी है वैसा इस अध्याय में वर्णन है।

कारिका—**षड्विधा भगवद्बुद्धिः, स्वरूपे रतिरूपिणी ।**
जगद्विषयिणी चैव कृतियुक्तेति वै त्रिधा ॥२॥

कारिकार्थ—पहली कारिका में समुदायार्थ कह कर दूसरी कारिका में अवयवार्थ कहते हैं। भगवान् की बुद्धि ६ प्रकार की है, १—स्वरूप में प्रीतिवाली,[1] २—जगत् के सम्बन्धवाली[2], ३—क्रिया करने वाली[3], इस प्रकार की तीन बुद्धि भगवान् की है ॥२॥

कारिका—**हरेरेव, तथाऽन्यापि भगवद्विषया त्रिधा ।**
लौकिकोपायजनिता प्रथमा सा द्विधा पुनः ॥३॥
तर्कक्रियाविभेदेन द्वितीया वैदिकी स्मृता ।
साक्षात्कारस्तृतीयस्तु षट्तु सर्वं प्रतिष्ठितम् । ४॥

कारिकार्थ—इसी तरह दूसरी तीन बुद्धि भी भगवत्सम्बन्धवाली है जैसे कि १—लौकिक उपाय से उत्पन्न[4] हुई, २—तर्क और क्रिया के भेद से वैदिक दो तरह[5] की है, ३—साक्षात्कार[6] हुआ, इन ६ प्रकार की भगवान् की बुद्धियों में सर्व-प्रतिष्ठित हो गया है ॥३-४॥

कारिका—**सामान्यतो ग्रन्थरूपा भगवद्बुद्धिरीर्यते ।**
सर्गोपयोगिनी, यस्मात्तामसादुद्भता हि सा ॥५॥

कारिकार्थ—सामान्यतः सर्व को उपयोग में आने वाली ग्रन्थरूप (भागवत्) में भगवान् की बुद्धि कही गई है, कारण कि वह तामस (सङ्कर्षण) से प्रकट हुई है ॥५॥

विचार—**अनेकधा भागवतप्रवृत्तिरुपयुज्यते ।**

विचारार्थ—भागवत् भगवत्प्रोक्त है जैसे लक्षण होते हुए उसकी उत्पत्ति सङ्कर्षण से कहना विरुद्ध है, इस पर छठी कारिका में कहते हैं ।

१— इस अध्याय के १० वें श्लोक में 'कृतक्षणः, स्वात्मरतौ' पद से कहा है ।

२— श्लोक १२—लोकान् पीतान् ददृशे स्वदेहे ।

३— श्लोक १३—'तपस्यार्थं सूक्ष्म' से कही है ।

४— श्लोक १५ में 'तस्यांसच' से कही है ।

५— श्लोक १८ से 'कएष आदि लोकों से उनका वर्णन है श्लोक २२ से अपश्यतऽपरयत यत्र पूर्वं' से इसका वर्णन है ।

६— यद्यपि यह बुद्धि चतुर्मुख की कही है तो भी 'तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता' इस वाक्यानुसार वह भी हरि की ही है पूर्वोक्त त्रिविध बुद्धि का सार भूत आधिदैविक ब्रह्मा भी बुद्धि में ही है । 'प्रकाश'

कारिका—**दशलोलायुताः सर्वाः कल्पभेदैर्व्यवस्थिताः ।**
भगवद्बुद्धिरेषेति सैव लोलाद्वये तता ।।६।।

कारिकार्थ—भागवत् की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से उपयोग में आती है क्योंकि उसमें सर्व दशविध लीलाओं का वर्णन है, उनमें देखने में आने वाला विरोध कल्प भेद से मिटाया जाता है। यह भगवद्बुद्धि (भगवान् का ज्ञान) दो लोलाओं में वितरित हुई है, एक स्वार्थ और दूसरी पदार्थ लीला ।।६।।

आभास—एवं पूर्वाध्याये भगवच्चरित्रज्ञानार्थं बहवः प्रश्नाः कृताः । तत्र भगवत्क्रियाज्ञानार्थं महानस्योद्यम इतिं प्रोत्साहयितुं स्तौति—

आभासार्थ - इस प्रकार भगवच्चरित्र के ज्ञानार्थ पूर्वाध्याय में विदुर ने बहुत प्रश्न किये, इस विषय में भगवान् की क्रिया शक्ति के ज्ञान की प्राप्ति के लिये विदुर का महान् उद्यम देखकर उसको प्रोत्साहित करने के लिये, मैत्रेयजी निम्न श्लोक में उसकी स्तुति (प्रशंसा) करते हैं।

मैत्रेय उवाच । श्लोक—**सत्सेवनीयो बत ! पूरुवंशो यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।**
बभूविथेहाऽजितकीर्तिमालां पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ।।१।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं कि अहो ! पुरुवंश के सत्पुरुषों की सेवा करनी चाहिये, क्योंकि वह सेवा योग्य है फिर विशेष में तुम लोकपाल भी, यहां (पुरुवंश में) ही उत्पन्न हुए हो, एवं भगवान् को ही सबसे मुख्य समझते हो और क्षण-क्षण में अजित (भगवान्) की कीर्तिमाला को नूतन कर रहे हो ।।१।।

सुबोधिनी—सत्सेवनीय इति । बतेति हर्षे । **सद्भिर्**महद्भिरपि पूरूवंश सेव्यः, उत्पत्त्यर्थं स्थानार्थं ज्ञानार्थं च । **यद्यस्माद्यस्मिन्** वंशे उत्पन्नो **लोकपालो** यमोऽपि भगवद्धर्मविरोधिधर्मयुक्तोऽपि **भगवत्प्रधानो** जातः । भगवानेव प्रधानं यस्य. तादृशस्त्वं **बभूविथ** । यतोऽ**जितकीर्तिमालां पदे पदे** क्षणे क्षणे **नूतनयसि** । **अभीक्ष्णं** सर्वदा । सन्तो हि स्वभावजयार्थं महान्तं यत्नं कुर्वन्ति । तच्चेत् पूर्वं संबन्धमात्रेण भवति, तदा प्रयत्नान्तरं परित्यज्य सद्भिः पूरुवंश एव सेव्यो भवति । **बतेति** अत्याश्चर्यदर्शनात् प्रमेयबलाधिक्यख्यापनार्थम् । अधिकारे हि सर्वथा भगवद्बुद्धिर्नश्यति, सुतरां लोकपालाधिकारे । यदप्युक्तं 'द्वादशैते **विजानीमः' इति, तद्दण्डपरिवर्जनार्थमधिकारिणा** ज्ञातव्यमिति ज्ञायते, न तु भक्तिमार्गानुसारेण । तत्राऽपि प्रकृते विशेषं वक्तुं **बभूविथेति** मध्यमपुरुषः प्रयुक्तः, **तेन यमोऽतिक्रूरः** सर्वघातक इति सूचितम् । तादृशस्याऽपि यदि भगवत्परत्वम्, तद्वंश-

संबन्धात्। सोऽपि संबन्ध आभिमानिक एव, अविवाहितायां व्यासादुत्पत्तेः। **अजितेति** न केनापि जित इति भगवदुत्कर्षस्तस्य हृदये रोचत इति ज्ञापितम्। तेन सर्वथा मात्सर्याभावः सूचित.। **कीर्तिरिति**। यमः कर्मप्रधानो न प्रसिद्धिमात्रं मन्यते। साऽप्यस्य हृदये समागतेति ज्ञापितम्। किञ्च **मालेति** कण्ठभूषणम्। कीर्तिं कण्ठे स्थापितवानिति भक्तेभ्योऽप्याधिक्यम्। नूतनकरणेनाऽतिसामर्थ्यम्। पदे पदे नूतनकरणं प्रेम्णा। एवं माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहोऽस्य वर्तत इति सूचितम्। **अभीक्ष्णमित्यनेन** प्रेम्णोऽकुण्ठत्वं सर्वतोधिकत्वम् ॥१॥

व्याख्या—'बत' पद हर्ष वाचक है अर्थात् मैत्रेयजी कहते हैं कि आपका इस प्रकार का कर्त्तव्य देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है। महान् पुरुषों को भी यह पुरुवंश, उत्पत्ति के लिये, स्थान के वास्ते और ज्ञान प्राप्ति के लिए सेवा करने के योग्य है क्योंकि आप भगवान् के धर्मों के विरुद्ध धर्मों वाले यम हैं तो भी इस पुरुवंश में उत्पन्न होने के कारण भगवान् को ही मुख्य (उत्तम) मानने वाले हो गये हैं, जिससे ही अजित (प्रभु) की कीर्तिमाला को प्रति क्षण नवीन बना रहे हैं।

सत्पुरुष स्वभाव को जीतकर अपने वंश में रखने के लिये महान् प्रयत्न करते हैं वह स्वभाव यदि जब केवल पुरुवंश के सम्बन्ध से ही बन जावे अर्थात् जीत लिया जावे तो अन्य प्रयत्नों को त्याग कर सत्पुरुषों को पुरुवंश की सेवा ही करनी चाहिये। 'बत' पद का आशय प्रकट करते हैं कि यह चरित्र देखकर अति आश्चर्य होता है एवं प्रमेय बल की अधिकता प्रतीत होती है। अधिकार प्राप्त होने पर सर्वथा भगवद् बुद्धि नाश हो जाती है अर्थात् भगवान् में प्रेम नहीं रहता है। लोकपाल पद में तो कुछ भी शेष नहीं रहता है, मूल (जड़) से ही भगवद्बुद्धि कट जाती है।

यद्यपि यम ने 'द्वादशैतेविजानीमः' इस वाक्य में कहा है कि हम शिक्षा के १२ (द्वादश)प्रकार जानते हैं कि किसको दण्ड देना वा किसको दण्ड नहीं देना और किस प्रकार दण्ड देना आदि अधिकारी को जानना चाहिये, यह जानना भक्तिमार्ग के अनुसार नहीं है उसमें भी वर्तमान प्रकृत प्रसङ्ग में उत्तमता बताने के लिए 'बभूविथ' यह मध्यपुरुष का प्रयोग किया है, तुम वैसे हुए हो,इससे सूचित किया है कि यम अतिक्रूर, सर्व घातक होता है, ऐसे यम को भी पुरुवंश में उत्पन्न होने से भगवत्परायणता हुई है, तो अन्य साधारण मनुष्य की भगवत्परायणता होने में तो संशय ही नहीं है वह सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं है केवल अभिमान पूर्वक माना हुआ है क्योंकि व्यासजी की विवाहित स्त्री से विदुर की उत्पत्ति नहीं हुई है, 'अजित' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् का उत्कर्ष विदुर के हृदय को अच्छा लगता है, इससे यह सूचित किया है कि लोकपाल होते हुए भी विदुर में मात्सर्य नहीं है कर्म को ही मुख्यता देने वाला यम केवल जिस (कीर्ति) की प्रसिद्धि है उसको नहीं मानता है, वह भगवत्कीर्ति भी इस (विदुर) के हृदय में जच गई है किन्तु 'माला' पद से कण्ठभूषण बताया है अर्थात् विदुर ने कीर्ति को अपने कण्ठ में धारण कर लिया है जिससे अन्य भक्तों से विदुर में भक्ति की अधिकता है, उस कीर्ति को नूतन करते हैं इससे विदुर में विशेष सामर्थ्य बताई

है, क्षण-क्षण में नूतन करने का कारण प्रेम' है। इस प्रकार इस (विदुर) का माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह भगवान् में है, यह सूचित किया है, 'अभीक्षणं' पद से यह बताया है कि विदुर का प्रेम अकुण्ठ (शुद्ध) होने से उसमें सबसे अधिकता है ॥१॥

आभास—एवं सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकभगवद्विषयकसर्वगुणा उत्पन्ना इति महान्यं वंशः, पाण्डवादीनां भक्तानां स्वस्य च अवज्ञागर्वाभावार्थं तथा निरूपितः । इदानीं सर्वे प्रश्ना विशकलिततया पृष्टाः भगवच्चरित्रज्ञापका न भवन्तीति तथाविधत्वज्ञापनार्थमपृष्टकथनार्थं च पुराणमेव मूलतः किञ्चित्कथयिष्यामीत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार सकल दोषों की निवृत्ति और भगवत्सम्बन्धी समस्त गुण विदुर में उत्पन्न हुए हैं जिससे निश्चित है कि यह पुरुवंश उत्तम है, पाण्डवादि भक्तों का तिरस्कार न किया जावे तथा अपने को गर्व भी न हो, इसलिए उसी वंश का वर्णन इस प्रकार किया।

विदुर ने जो भी प्रश्न किये हैं वे नियमित नहीं किये हैं जिससे उनके उत्तर से केवल भगवच्चरित्र का पूर्ण ज्ञान होवे तथा जो नहीं पूछा है उसका भी उत्तर मिल जावे तदर्थ मूल से भागवत पुराण ही कहूँगा—यों निम्न श्लोक से जताते हैं—

श्लोक—सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःख महद्गतानां विरमाय तुभ्यम् ।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥२॥

श्लोकार्थ—स्वल्प वा नाममात्र सुख के लिये महान् दुःख के भौक्ता बने हुए मनुष्यों के वे दुःख मिटाने के लिये एवं सत्यपूर्ण सुख प्राप्त हो तदर्थ जो भागवत पुराण साक्षात् भगवान् ने ऋषियों को कहा है वह भागवत जिससे तुमने प्रश्न किये हैं वह मैं (मैत्रेय) आपके लिये कहना प्रारम्भ करता हूं ॥२॥

सुबोधिनी—**सोऽहमिति**। त्वया ये पूर्वं प्रश्नाः कृताः '**सुखाय वर्माणि करोति लोकः**' इत्यादिना, तेऽप्यनेन परिहृता भविष्यन्तीति। तत्र प्रथमं प्रश्नं फलत्वेन निर्दिशन्नाह—**नृणां क्षुल्लसुखाय महद्दुःखं गतानां तद्विरमाय्येति**। अनेन पृष्टानां सर्वेषामेव पदार्थानां भगवत्कर्मपरत्वं सामान्यतो निरूपितम्। स्वभावतः कर्मणामल्पसुखेच्छया कृतानां महद्दुःखजनकत्वम्। तान्येव च कर्माणि भगवत्संबद्धानि चेत्, भगवदीयत्वेन कृतानि दुःखाभावपूर्वकमहत्सुखफलानि भवन्तीति। अत्र श्रवणे भवानेवाऽधिकारीति तुभ्यमुक्तम्। **भागवतमिति** भगवता हि प्रतिपादिताः स्वकृताः स्वफला एव। परम्परायामपि भगवदुक्तपदार्थानां दोषसंबन्धाभावाय, वक्तुः श्रोतुः स्व-

रू तंऽवस्थातश्च परमां शुद्धिं निरूपयितुं शुद्ध-परम्परामाह— **यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्य इति।** यद्भागवत भगवता न परम्परयोक्तम्, किन्तु साक्षादेव। भगवत्त्वं वा साक्षात्। भगवत्-कृपया जातभगवत्त्वव्युदासार्थम् **ऋषिभ्य** इति। ज्ञाननिष्ठा ऋषयः परमपात्रत्वेन निरूपिताः। येषां बुद्धौ मन्त्राः स्वतः स्फुरन्ति, सा बुद्धिरुत्तमैवं भवति ॥२॥

व्याख्या—तुमने पहले 'सुखाय कर्माणि करोति लोकः' इत्यादि प्रमाणों द्वारा जो प्रश्न किये हैं उनके उत्तर भी इससे मिल जायेंगे। इस विषय में प्रथम प्रश्न का फलपन से निर्देश करते हुए कहते हैं कि 'नृणां क्षुल्लसुखाय मह दुःखं गतानां तद्विरमाय' तुच्छ सुखों के लिये महान् क्लेशों को प्राप्त किये हुए मनुष्यों के वे क्लेश नष्ट हो जावे इसलिए इन शब्दों से प्रथम प्रश्न का उत्तर वर्णन किया है इससे पूछे हुये समस्त पदार्थों को सामान्य रूप से भगवत्कर्म परत्व कहा है क्षुल्लक (तुच्छ) सुखार्थ किये हुए कर्म स्वभाव से ही महान् कष्ट करने वाले हैं, यदि वे ही कर्म भगवान् के सम्बन्ध वाले किये जावें एवं भगवदीयपन से किये हुए हों तो दुःखों को मिटाकर महत्सुखरूपफल देने में समर्थ हो जाते हैं, 'तुभ्यम्' तुम्हारे लिये कहता हूँ यों कहने का भाव प्रकट करते हैं कि तुम ही इसको श्रवण करने के अधिकारी हो।

'भागवत्' इस पद से यह सूचित किया है कि भगवान् के प्रतिपादित अपने कर्म भगवद् रूप फल देने वाले हैं। परम्परा से भगवान् के कहे हुए पदार्थों में दोष का सम्बन्ध ही नहीं है अतः वक्ता तथा श्रोता की स्वरूप से और अवस्था से शुद्धि का निरूपण करने के लिये शुद्ध परम्परा कहते हैं, 'यदाह साक्षात् भगवान् ऋषिभ्यः' यह भागवत भगवान् ने परम्परा से नहीं कही है किन्तु स्वयं ने कहीं है अथवा वक्ता में साक्षात् भगवत्पन है, इससे यह बताया है कि भगवत्कृपा से उनमें भागवत नहीं प्रकटी है, इसलिए ऋषिभ्यः कहा है, ऋषि ज्ञाननिष्ठ होने से स्वयं साक्षात् भगवान् के विराजमान हो जाने के परम पात्र हैं जिनकी बुद्धि में मन्त्र स्वतः स्फुरित होते हैं वह बुद्धि उत्तम ही होती है ॥२॥

आभास—भगवानपि न क्रीडां कुर्वन्, लक्ष्मीसहितो वा, भागवतमुक्तवान्, किन्तु आत्मध्यानारूढ एकाग्रचित्तस्तथोक्तवानिति भगवन्तमुपदेष्टारं वर्णयति—

आभासार्थ—भगवान् ने भी यह भागवत क्रीड़ा करते हुए लक्ष्मी के साथ रह कर नहीं कही है, किन्तु आत्मध्यानमग्न एवं एकाग्रचित्त होकर कही है, यों निम्न श्लोक में उपदेष्टा भगवान् का वर्णन करते हैं—

श्लोक— **आसीनमुर्व्यां भगवनामाद्यं संकर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम्।**
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥३॥

श्लोकार्थ——अकुण्ठित स्वत्व वाले, भूमि पर विराजमान आद्यदेव सङ्कर्षण से भी उत्तम स्वरूप को जानने की इच्छा वाले सनत्कुमारादि मुनियों से पूछने लगे ।।३।।

सुबोधिनी——आसीनमुर्व्यामिति। आसीनमिति क्रियान्तराभावेन लौकिकरीत्याऽपि वैजात्याभावः सूचितः। **उर्व्यामिति** भूमौ स्थित्या यज्ञियत्वं सूचितम्, **अन्यथा** भगवान् कथं भूमाबासीत्। इयमुर्वी नोद्धृता, किन्तु मूलभूतैव; यतः पातालाधोविद्यमानत्वं स्थानलक्षणाभिर्नागकन्यापूजनया च निरूप्यते। **आद्यमिति** पित्रादिजन्मदोषः परिहृतः। **संकर्षणमिति** भगवतश्चतुर्मूर्त्तेर्या मूर्तिः संहारकत्रो, सा निरूपयतीत्युक्तम्। तेन भगवता पदार्थनिरूपणे दृष्टान्तार्थमपि यद्यन्ये पदार्था निर्दिष्टा भवन्ति, तेऽपि संकर्षणं प्राप्य दग्धपूर्वावस्था भगवदीया एव नूतना भवन्तीति सूचितम्। तामसत्वेन समागतं दूषणं परिहरति —**देवमिति**। ननु देवानामपि नानाविधत्वात् तामसत्वमपरिहृतमेव। अत आह—**अकुण्ठसत्त्वमिति**। न कुण्ठं कुण्ठितं सत्त्वं सत्त्वगुणोऽक्षरात्मकं वा, आसनत्वेन यस्य। स तु गुणत एव तामसः, संहारकर्तृत्वात्; तदपि प्रलयकाले। इदानीं तु देवः सर्वोपास्य एव। संकर्षणत्वं च द्रष्टृदृश्ययोः सम्यक् कर्षणात्, अतः स एव संसारं प्रयच्छतीत्याद्यत्वम्। तेन भजनावश्यकत्वं पितृत्वादुपदेष्टृत्वं च संगच्छते। इदं तु ज्ञानिन एव जानन्तीति श्रोतृत्वं सनकादीनाम्। मोक्षार्थमपि अयमेव सेव्यः, सम्यक्कर्षणं तत एव यतो निवर्तते। अस्य च रूपमग्रे निरूपयिष्यते। ननु सनकादीनां ज्ञानस्य विद्यमानत्वात् संकर्षणस्थाने किमर्थं गता इत्याह—**विवित्सव इति। अतः** संकर्षणात्**परस्य** वासुदेवस्य **तत्त्व** स्वरूपं **विवित्सवो** ज्ञातुमिच्छवः **कुमारमुख्याः** सनकादयः। सनत्कुमारो मुख्यो येषाम्। **मुनय इति** संकर्षण एव जानाति, तमनन्तरो वासुदेवं ज्ञातुं नाऽन्य इति ज्ञानयुक्ताः। **अन्विति** ब्रह्मणा स एव प्रष्टव्य इत्युक्ते तम्-वपृच्छन्। यद्यपि ब्रह्मा जानाति, तथापि स भक्तिमार्गप्रधानः सनकादींस्तथा न मन्यते, अतः संकर्षणमपि ज्ञानप्रधानं मन्यमानस्तथाऽऽह ।।३।।

व्याख्या—'आसीनं बैठे हुए पद का तात्पर्य प्रकट करते हैं कि सङ्कर्षण में इस समय कोई क्रिया नहीं है, लौकिक रीति से भी उनमें व्यग्रता का अभाव है, भूमि पर स्थिति कहने से उनका यज्ञ से सम्बन्ध बताया है, यदि यज्ञ से सम्बन्ध न होवे तो भगवान् पृथ्वी पर क्यों रहे, यह पृथ्वी उद्धृत्त की (निकाली हुई) नहीं है किन्तु मूलरूप (अण्डरूप) ही है, यह भूमि मूल रूप थी इसमें प्रमाण (कारण) कहते हैं कि स्थान (फणाथ) और नाग कन्या पूजन कर रही थी जिससे मालूम होता है कि भूमि पाताल से भी अधो (नीचे) भाग में थी अतः यह मूलरूप भूमि कही गई है न कि वराहोद्धृत[1] भूमि कही है। 'अद्य' पद से यह सूचित किया है कि इसमें पिता

१-वराह से निकाली गई।

आदि से उत्पन्न दोष नहीं है सङ्कर्षण पद से जताया है कि चतुर्मूर्ति भगवान् की यह संहारक मूर्ति है। इससे यह सूचित किया है कि भगवान् ने पदार्थों के निरूपण करते हुए जो दृष्टान्त के लिये भी अन्य पदार्थ कहे हैं, वे पदार्थ भी संङ्कर्षण को प्राप्त होकर अपनी पूर्वावस्था (अभगवदीयत्व) को जलाकर नवीन भगवदीय रूपवाले बन जाते हैं, सङ्कर्षण तो तमो गुणी है, इस दोष को मिटाने के लिये 'देव' विशेषण दिया है। केवल 'देव' शब्द कहने से तामसत्व का परिहार नहीं हो सकता है क्योंकि देव भी बहुत प्रकार के (सात्विक, राजस और तामसादि) होते हैं, इस पर कहते हैं कि 'अकुण्ठ सत्वं' यह देव वह है जिसका संतोगुण कुण्ठित नहीं हुआ है अथवा अक्षर[1] रूप सत्वगुण है अर्थात् भगवान् की शय्या (आसन) रूप होने से शुद्ध पूर्ण सत्वरूप इन (सङ्कर्षण) को संहार करने के कारण तामस कहा जाता है वे भी केवल प्रलय के समय में ही है अतः वे गुण से ही तामस हैं, स्वरूप से तामस नहीं है।

वे तो सबके उपास्य देव हैं, इनको 'संकर्षण'[2] इसलिये कहते हैं कि द्रष्टा और दृश्य दोनों का आकर्षण कर लेते हैं, अतः वे ही संसार देते हैं जिससे 'आद्य' हैं इसलिए इनका भजन करना आवश्यक है, पिता होने से इनमें उपदेष्टत्व भी बन सकता है। यह तत्व तो ज्ञानी ही जानते हैं इसलिये ही सनकादि श्रोता बने हैं, मोक्ष के लिये भी ये ही सेव्य हैं, क्योंकि संसार का आकर्षण इनसे ही मिटता है इनका स्वरूप आगे निरूपण किया जायगा।

जब सनकादिकों में ज्ञान विद्यमान था तो संकर्षण के स्थान पर क्यों गये ? ऐसी शंका होवे तो कहते हैं कि 'विवित्सवः' ये सनकादि कुमार जिनमें सनत् मुख्य हैं, सङ्कर्षण से भी परं (उत्तम) अन्य कोई है वा नहीं अर्थात् वासुदेव के स्वरूप के ज्ञान प्राप्ति के लिये, गये थे। ये कुमार 'मुनि' थे अर्थात् ज्ञानवान थे अतः ये ही इस बात को जानते थे कि वासुदेवतत्व को सङ्कर्षण ही जानते हैं इनके सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता है 'तमन्वपृच्छन का भाव स्पष्ट करते हैं कि 'अनु' कहने से यह सूचित किया है कि ब्रह्मा ने सनकादि को कहा कि संकर्षण से ही पूछना चाहिए उसके बाद कुमारों ने पूछा, यद्यपि ब्रह्मा (वासुदेव स्वरूप) जानता है तो भी भक्ति मार्ग को मुख्य सनकादि नहीं मानते हैं, अतः सङ्कर्षण को ज्ञान प्रधान मानने से ब्रह्मा ने वेसे ही कहा ॥३॥

आभास—स संकर्षणः, अभिमानाधिदैवत्वात् न तमभिमानो व्यान्मोत्यतः स्वस्याऽपि परं वासुदेवं ध्यायन्नेव सर्वदा तिष्ठति। यदा वा ध्यायाति, तदा ते मता इति तस्य ध्यानावस्थां निरूपयति—

१—सन्देशात्मक है २—यह सङ्कर्षण नाम रूढ़ि नहीं है किन्तु यौगिक है अतः सबको स्वरूप में लय करना है एवं बाहर भी निकालना है। (प्रकाश)

आभासार्थ—संङ्कर्षण के अभिमान का अधिदैव स्वरूप होने से उन्हें अभिमान अपने आधीन नहीं करता है, इस कारण से वे अपने से उत्तम वासुदेव का ध्यान सर्वदा ही करते रहते हैं, जब कुमार गये तब ध्यान कर रहे थे जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं-

श्लोक—**स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं यं वासुदेवाभिधमामनन्ति ।**
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीषदुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—जिसका वासुदेव नाम से लोक आदर करते हैं, उसको सङ्कर्षण अपना आश्रय समझ कर और उसे अपने से बड़ा मान कर उसका ध्यान कर रहे हैं। कैसे ? इसका श्लोक के उत्तरार्ध में वर्णन करते हैं कि देवों (सनकादि) के लिये आत्मामें धारण किये हुए नेत्र कमल की कली को ईषत् (कुछ थोड़ी) खुली किये हुए थे ।।४।।

सुबोधिनी—**स्वमेव धिष्ण्यमिति । धिष्ण्यं** स्थानमाश्रयम्, न त्वासनम् । वासुदेवस्य तं **बहु मानयन्तम् ।** तस्य ध्याने क्रियमाणे ध्याता स्वय ध्येयं बहुमानयत्येव । तस्य ध्येयस्य स्वरूपमाह—यं ध्येयत्वेन निरूपित लोका वासुदेवेति वदन्ति । यो ध्येयत्वेन निरूपितस्तमित्यर्थः । वासुदेव इत्यमिधा यस्य । वस्तुतस्तु, स्वस्यैवाऽऽश्रयभूत आत्मा, लोकाः परं शब्दान्तरेण व्यपदिशन्ति । ननु ध्यानारूढो बहिःसंवेदनाभावात् कथमुपदेष्टा भवतीत्यत आह—**प्रत्यग्धृतेति ।** प्रत्यगात्मस्वरूपे धृतमक्षि येन । **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षताऽऽवृत्तचक्षुः**' इति श्रुतेः । यद्यप्यन्तर्नीतं तेन चक्षुः, तथापि भगवान् कमलनयन इति तदम्बुजं जलाद्बहिर्दृश्यत एव, तथा भगवानपि ध्यानारूढोऽपि बहिः पश्यतीति ज्ञातव्यम् । किञ्च, तदक्षि कमलस्य कोशरूपम् । कोशो हि मुकुलितपत्रात्मको भवति, तथाऽयमपि निमीलिताक्षः । तथापि विबुधानामागतानां सनकादीना-**मुदयाय** अभ्युदयाय, तानभ्युदितान् कर्तुम्, ईषद्विकचय्य पश्यन्तम् । कोशे हि अर्द्धविकासः संभवति ।।४।।

व्याख्या—'धिष्ण्य' पद का अर्थ यहां आसन नहीं हैं किन्तु आश्रय एवं स्थान है जिसको अपना आधार मानकर ध्यान कर रहे हैं, तथा उसका बहुत आदर भी करते थे ध्याता, ध्येय का आदर करते ही हैं यह नियम है, जिसका सङ्कर्षण ध्यान कर रहे हैं उसे लोक 'वासुदेव' कहते हैं वास्तव में वह सङ्कर्षण का अपना ही आश्रयभूत आत्मा है लोक उसको दूसरे शब्द द्वारा 'पर' कहते है ।

जो ध्यानारूढ़ होता है उस को बाहर का किसी का ज्ञान नहीं रहता है तो फिर ये कुमारों

के उपदेशक कैसे बने ? इसका उत्तर उत्तरार्ध से देते हैं—'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षताऽऽवृत चक्षुः इस श्रुत्यनुसार संकर्षण जी ने अपने आत्म स्वरूप में नेत्रों को धारण किये (लगाये) यद्यपि चक्षु को भीतर ले गये तो भी भगवान् (सङ्कर्षण) कमल नयन होने से जैसे कमल जल से बाहर दीखता ही है और भगवान् ध्यानारूढ़ हो तो भी देख सकते थे यों जानना चाहिए किञ्च यह नेत्र कमल के कोश रूप हैं, कोशसदैव मुकलित पत्रों वाला होता है, वैसे ही ये भी निमीलित नेत्र वाले थे, तो भी आये हुए सनत्कुमारों का उदय (उन्नति) हो इसलिए ईषत् (स्वल्प–अस्फुट–थोड़े) खुले जैसे कर (बनाके) देखते थे, कोशरूप अर्द्धविकसित (आधा खिला हुआ) होता है, ऐसी अवस्था में उपदेश देने में कोई वा किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं है ।।४।।

आभास—तेऽपि बाह्यतोऽपि शुद्धा भूत्वा समागता इत्याह—

आभासार्थ—वे (कुमार) बाहर से भी शुद्ध होकर आये थे जो निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापैरुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।**
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः सप्रेम नानाबलिभिर्वरार्थाः ।।५।।

श्लोकार्थ—भगवान् संकर्षण के चरण धरने का जो पीठरूपकमल है, जिसका सर्पराज की कन्याओं ने वर प्राप्ति के लिये प्रेम सहित अनेक बलियों से पूजन किया है उसको गङ्गा जल से भीगी हुई अपनी जटा के जूड़ों से मुनियों (सनत्कुमारों ने) स्पर्श करते हुए पूछा ।।५।।

सुबोधिनी—**स्वर्धुन्युदार्द्रैरिति** । अथवा भगवदीयशरीरसिध्यर्थं **स्वर्धुन्युदार्द्रैरिति** । यावद्गङ्गाजलेनाऽऽर्द्रं शरीरं तिष्ठति, तावद्दैत्याक्रमणं न भवतीति पाताले दैत्याधिक्यात् तत्स्पर्शाभावार्थमार्द्रा इव जटाः कृताः, न शोषिताश्च । गङ्गाद्वारमार्गेण गता इति केचित् । तथा सति ते सर्वार्द्रा एव वक्तव्याः । **'योगेश्वराणांगतिमाहुः'** इति न्यायेन येन केनाऽपि मार्गेण ते गन्तुं शक्ताः, स्वर्धुनीपदे लक्षणा च स्यात् । अस्तु वा तथैव अतिपावित्र्यार्थम् । **जटा** असंस्कृतकेशास्तेषां **कलापैः** समूहैः **संकर्षणचरणोपधानं** पीठमुपस्पृशन्तोऽपृच्छन्निति संबन्धः । पूर्वं कृतनमस्कारा अपि वासुदेवस्वरूपज्ञानार्थं पुनः साष्टाङ्गनमस्कारं कृतवन्त इत्यर्थः । ननु स्वार्द्रजटाकलापैः तदुपस्पर्शे को हेतुस्तत्राऽऽह—**पद्मं यदर्चन्तीति । अहिराज्यकन्याः** वासुकिकन्याः, **सप्रेम** यथा भवति तथा, **वरार्थाः** सत्यो **नानाबलिभिर्नानापूजाप्रकारैर्यत्पद्ममर्चन्ति** । तेषां स्पर्शादोषायेतिकेचित्, गङ्गापेक्षयापि तच्चरणस्यैव प्रकृष्टत्वात् । किन्तु तदुपस्पर्शने इष्टकामना सिद्ध्यन्तीति तदुपस्पर्शने हेतुरर्चन्तीति । महतामपि फलदातेति स्वेष्टसिद्धिः सूचिता । कन्यात्वादेव न विकारान्तरसम्भावना, कामितान्तरकथनात्तु न काम्यत्वम् । अतः सर्वप्रकारेण निर्दुष्टं सर्वकामनापूरकं भगवन्तं तमेव ध्यायंस्तत्स्वरूपं सम्यग्वक्ष्यतीति सूचितम् ।।५।।

व्याख्या—सनत्कुमारों ने बाहर की शुद्धि के लिये अपना शरीर तथा अपनी जटाऐं गङ्गा जल से आर्द्र (गीली) कर रखी थी जिससे इनका शरीर भगवदीय हो गया था। शरीर गङ्गाजल से आर्द्र करने का कारण यह भी था कि पाताल में दैत्य अधिक रहते हैं जब तक गङ्गा जल से शरीर आर्द्र (गीला) रहता है तब तक दैत्य आक्रमण नहीं कर सकते हैं अतः जटायें भीगी ही रखी हैं। कितने ही कहते हैं कि, गङ्गा के द्वार से पाताल में गये हैं यदि गङ्गा द्वार से गये होते तो वे समग्र आर्द्र कहे जाते केवल जटाऐं आर्द्र न कहते योगेश्वराणांडातिगीतमाहुः इस न्यायानुसार वे किसी भी मार्ग से जाने में समर्थ हैं गङ्गा पद देने पर लक्षणा करनी पड़ेगी वा यों ही मान लेवें कि अतिशय पवित्रता के लिए इस मार्ग से गये हो जिससे इस पक्ष को मानने में आपत्ति (हर्कत) नहीं है, 'जटा' पद देने से यह सूचित किया है कि केश सुलझाये हुए नहीं थे अतः उन आर्द्र जटाओं के समूह से ही सङ्कर्षण के चरणों के पीठ का स्पर्श कर पूछने लगे।

यद्यपि पहले प्रणाम किया था तो भी वासुदेव के स्वरूप को जानने के लिये फिर साष्टाङ्ग नमस्कार करने लगे यों अर्थ (तात्पर्य) हैं

गीली जटाओं से स्पर्श करने का क्या कारण था? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पद्मं यदर्चन्ति इति' प्राप्त करने की इच्छावाली वासुकि की कन्याओं ने प्रेम सहित अनेक प्रकार की पूजा सामग्रियों से जिस चरण कमल की पूजा की थी उस चरण पद्म को स्पर्श कर प्रणाम करना था जिससे हेतु की सिद्धि हो जाय।

कितने ही कहते हैं कि उनको स्पर्श का दोष न लगे, इसलिए जटाऐं गीली रखी थी, गङ्गा की तुलना में भी वे चरण उत्कृष्ट (उत्तम) थे, जिससे महत्पुरुषों को भी फल देते हैं। इससे यह सूचित किया है कि अपनी भी इष्ट सिद्धि होगी। कन्यात्व था जिससे अन्य किसी प्रकार के विकार की सम्भावना नहीं थी।

अन्य कामना (वर कामना) होने से यह पूजन काम्यत्व (सङ्कर्षण की प्राप्ति की इच्छावाला) नहीं था। इससे सर्वथा निर्दोष तथा सर्व प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले उसी ही वासुदेव भगवान् का ध्यान कर्ता सङ्कर्षण उस (वासुदेव) का स्वरूप सम्यक् प्रकार से सम्पूर्ण कहेंगे यों सूचित किया है ॥५॥

आभास—तेषां सङ्कर्षणज्ञानपर्यन्तं ज्ञानं सिद्धमिति ज्ञापयितुम, वासुदेवज्ञानस्याऽत्यभीष्टत्वं विज्ञापयितुं ते स्तुवन्तीत्याह—

आभासार्थ—उन (कुमारों) को सङ्कर्षण का ज्ञान तो सिद्ध था, यों जताने के लिये वासुदेव का ज्ञान बहुत अभीष्ट (इच्छित) है यों बताने के लिए, प्रार्थनार्थ वे सङ्कर्षण की निम्न श्लोक से स्तुति करते हैं।

श्लोक--मुहुर्गृणन्तो वचसाऽनुरागस्खलत्पदेनाऽस्य कृतानि तज्ज्ञाः ।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेकप्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ।। ६ ।।

श्लोकार्थ--सहस्त्रों मुकुटों के उत्तममणियों से विशेष प्रकाशित हैं निरंकुश (स्वच्छ) फणें जिनकी, ऐसे इनके कृत्यों को मानने वाले कुमार अनुराग के कारण जिनकी वाणी के अक्षर स्खलित (गद् गद्) हो रहे हैं वे स्तुति करते हुए पूछने लगे ।।६।।

सुबोधिनी—**मुहुर्गृणन्त इति**। भक्त्युद्रेकान्मुहुर्गृणनम् । ज्ञाननिष्ठानां मनसा गृणनं सम्भवतीति प्रेमोल्लासख्यापनार्थं **वचसेत्युक्तम्** । ततोऽप्याधिक्याय स्खलत्पदेनेति **'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्येमे कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।'** इति वाक्यात् वासुदेव इत्राऽस्मिन्नपि प्रेमाऽऽह । अनुरागेण स्खलन्ति पदानि यस्मिन् इति । कविवन्नूतनकल्पनया स्तोत्रं वारयति **अस्य कृतानीति । अस्य** सङ्कर्षणस्य **कृतानि** चरित्राणि तत्प्रतिपादक-**वचसा गृणन्त** इति संबन्धः । नूतनपरिचयं व्यावर्तयन् सङ्कर्षणैकतानतां तेषामाह—**तज्ज्ञा इति** । सङ्कर्षणस्य कृतं जानन्तीति तथा । अन्यस्मै पूर्वोक्तलक्षणरहिताय भागवतं न वक्तव्यमिति तदोक्तम् । तस्य संकर्षणस्याऽवतार इव रूपान्तरेण स्थितिं वारयत्यानुषङ्गिकदोषाभावाय—**किरीटसाहस्रेति** । किरीटानां यत्साहस्रं सहस्रसमूहः, तत्र ये **मणिप्रवेका** मण्युत्तमास्तैः प्रद्योतिता य उद्दामाः फणाः, तेषां सहस्रं यस्य । किरीटानामनादरार्थे साहस्रपदप्रयोगः, तेन नित्यनूतनानि किरीटानि भवन्तीति ज्ञापितम् । मण्युत्तमैः प्रद्योतितत्वेन सहस्रफणादर्शनं स्पष्टं ज्ञापितम् । अनेन दर्शनेनाऽपि भयं निवारितम् । गुणातीतत्वज्ञापनाय--**उद्दामेति**, प्रलयसाधकत्वात् । कालान्तरे तेषां दाम्नेव सङ्कोचः सम्भवति, तदपि निषिध्यते । तथाकरणं तत्रत्यानां स्त्र्यादीनां नैकट्य भावाय । फणाशब्दो विकसितफणवाची, फणानामासहस्रमभिव्याप्य यस्येति वा ।।६।।

व्याख्या—कुमारों में भक्ति का उद्रेक हुआ जिससे वे बार-बार स्तुति करने लगे, ज्ञान में निष्ठा वाले मन से स्तुति करते हैं यों सम्भव है, इसलिए प्रेम से उत्पन्न आनन्द को प्रकट करने के लिये 'वचसां' कहा है अर्थात् वाणी से वह प्रकट करने लगे। उससे भी अधिकता प्रकट करने के लिये 'वचसां स्खलत्पदेन' विशेषण दिया है अर्थात् गद्-गद् वाणी से स्तुति करने लगे ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्येमे कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

अर्थ—जिसकी देव में उत्तम भक्ति है और जैसे देव में है वैसी ही गुरु में भी है। ऐसे महात्मा के हृदय में कहे हुये अर्थ प्रकाश पाते हैं। इस वाक्यानुसार वासुदेव की तरह सङ्कर्षण में भी प्रेम था यों कहते हैं उस प्रेम के कारण वाणी गद्-गद् हो रही है 'अस्यकृतानि' पद से नवीन कल्पना कर स्तुति के करने का निषेध करते है अर्थात् सङ्कर्षण ने जो चरित्र किये हैं उन चरित्रों के प्रतिपादक वचनों से ही स्तुति करने लगे, यों सम्बन्ध है। सङ्कर्षण का अब नवीन परिचय नहीं हुआ है, किन्तु उनके चरित्रों को पहले से जानने वाले थे जिससे उनकी संकर्षण में एकतानता थी, अर्थात् संकर्षण के चरित्र जानने से उनमें आसक्ति हुई थी।

उपर्युक्त लक्षण रहित को भगवान् नहीं कहना चाहिये, जब कुमारों में पूर्वोक्त गुण देखे तब भगवान् सुनाने लगे। सङ्कर्षण अवतार की तरह दूसरे रूप में नहीं थे किन्तु उसी ही अपने रूप में स्थित थे, वह 'किरीटसाहस्रेति' इस श्लोक में उत्तरार्ध से बताते हैं, सहस्रों मुकुटों के उत्तम मणियों से प्रकाशित हैं। निरङ्कुश (स्वच्छन्द) फणें जिसकी, सहस्र पद किरीटों के अनादर का सूचक है, जिससे वह भाव बताया है कि मुकुट नित्य नवीन धारण करते थे, वे उत्तम मणियुक्त होने से उनके प्रकाश से फणों का दर्शन स्पष्ट होता था उस दर्शन से दर्शक का भय निवृत्त हो जाता है, सङ्कर्षण गुणातीत है। यों बताने के लिए 'उद्यामेति' कहा है अर्थात् ये फणें प्रलय होने से निरङ्कुश कही गई हैं, कालान्तर में अर्थात् प्रलयकाल के सिवाय अन्य काल में उन (फणों) को रस्सी को तरह बन्धे हुए होने से सङ्कोच होने का सम्भव है, उसका भी निषेध करते हैं, ये करने का कारण हैं। वहां रहने वाली स्त्री आदि समीप न आवे 'फण' शब्द कहकर यह सूचित किया है कि फणें विकसित थी अथवा मुकुट में लगी हुई मणिओं का प्रश्न सहस्र फणों तक फैला हुआ था ऐसे सङ्कर्षण थे ॥६॥

आभास—एवं श्रोतृवक्तृस्वरूपं प्रस्तुतमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार श्रोता तथा वक्ता के स्वरूप का निर्णय कर, निम्न श्लोक में प्रस्तुत विषय को कहते हैं--

श्लोक—प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन निवृत्तिधर्माभिरताय तेन।
सनत्कुमाराय स चाऽऽह पृष्टः सांख्यायनायाऽङ्ग ! धृतव्रताय ॥७॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने विदुरजी से कहा, हे अंग ! उस महान् भगवान् ने निवृत्ति धर्म के सम्पूर्ण रतिवाले सनत्कुमार को कहा और सनत्कुमार ने व्रतधारी सांख्यायन ने जब उससे पूछा तब उसको कहा ॥७॥

सुबोधिनी—**प्रोक्तं किलैतदिति**। ननु स्ववक्ष्यमाणस्य भागवतस्य माहात्म्यज्ञापनार्थं किमित्येतावदुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—**किलेति**। **भगवत्तमेनेति** निरुपाधिकभगवत्त्वं व्यावर्त्तयति, अन्येभ्यश्चोत्कर्षं चाऽऽह। अनेन तेनाऽपि वासुदेवात् ज्ञातमिति ज्ञापितम्। अस्य श्रवणेऽधिकारमाह—**निवृत्तिधर्माभिरतायेति**। निवृत्तिधर्मे परमहंस्यधर्मे अभिरतिर्यस्य। तेन पूर्वोक्तेन अहस्रफणारूपेणैव उपदेशं कृतवानिति ज्ञापनार्थं पुनर्निर्देशः कृतः। **सनत्कुमारायेति** दुर्लभाधिकारित्वेन सनत्कुमार एवोपदिष्टः, अन्ये त्वानुषङ्गिकाः। तत्र हेतुः 'निवृत्तिधर्माभिरताय' इति पूर्वमुक्तः। ततः परम्परामाह—**स चाऽऽहेति**। सांख्यायनाय स उक्तवान्। योगनिष्ठः सनत्कुमारः सांख्यनिष्ठायोक्तवान्। सांख्ये व्यवहारोऽन्यथा भातीति तदर्थमाह—**धृतव्रतायेति**। धृतानि व्रतानि येन। **अङ्गेति** संबोधनं तथाऽधिकार एव सिद्ध्यतीति विदुरस्याऽपि तथात्वाय ॥७॥

व्याख्या—जिस भागवत को आप (मैत्रेय) कहने वाले हैं उसका माहात्म्य बताने के लिये इतना विशेष क्यों कह रहे हैं? ऐसी शङ्का मिटाने को 'किल' शब्द कहा है। जिसका भावार्थ है कि मैत्रेय ने झूठी प्रशंसा (बड़ाई) नहीं की है किन्तु भागवत ग्रन्थ निश्चय वैसा ही है, 'भगवत्तमेन' पद से यह स्पष्टता की है कि सङ्कर्षण निरूपाधिक (उपाधि रहित) ब्रह्म नहीं है किन्तु निरूपाधिक ब्रह्म के सिवाय जो अन्य हैं उनसे विशेष हैं, इससे यह प्रकट किया (जताया) है कि उस (सङ्कर्षण) ने भी वासुदेव से यह जाना है। इस (सनत्कुमार) को श्रवण का अधिकार है क्योंकि निवृत्ति धर्म (परमहंसों के धर्म) में इसका सम्पूर्ण प्रेम है जिससे जाना जाता है कि वह पूर्ण ज्ञानी है अतः सङ्कर्षण ने अपने पूर्वोक्त सहस्र फण रूप से ही उपदेश दिये हैं, यों जताने के लिये फिर 'सङ्कर्षण' का निर्देश किया है, 'सनत्कुमाराय' यह नाम स्पष्ट दिया है जिसका हेतु यह हैं कि वह दुर्लभ अधिकारी मिला है इसलिए इसको ही उपदेश दिया है, इसके साथ वालों को तो आनुषङ्गिक को (प्रसंगवश) उपदेश प्राप्त हुआ है। इसको ही आदेश का कारण 'निवृत्ति धर्मरत है' यों पहले कह आये हैं।

इसके अनन्तर परम्परा बताते हैं कि उस (सनत्कुमार) ने सांख्यायन को कहा सनत्कुमार योग निष्ठ है और सांख्यायन साङ्ख्य (त्याग ज्ञान) निष्ठ है साङ्ख्य सिद्धान्त में व्यवहार असत् माना जाता है। इस शंङ्का को मिटाने के लिये 'धृतव्रताय' विशेषण दिया है, संख्यायन ने व्रत धारण किये थे जिससे वह भागवत श्रवण का अधिकारी हुआ, इसलिए उसको भागवत के ज्ञान की प्राप्ति हुई, विदुर भी वैसा होवे इसलिए विदुर को मैत्रेयजी ने हैं अङ्ग! सम्बोधन देकर सचेत किया है ॥७॥

आभास—सांख्यायनस्तु पराशरं भक्तं मत्वा तस्मै प्रसङ्गादुक्तवानिति स्वगुरोराधिक्यकथनार्थमाह—

आभासार्थ—साङ्ख्यायन ने पराशर को भगवद्भक्त समझ कर प्रसङ्गानुसार उसको भागवत सुनाया, मैत्रेयजी, अपने गुरु की उत्तमता निम्न श्लोक में प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक—**सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।**
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय पराशारायाऽथ बृहस्पतेश्च ॥८॥

श्लोकार्थ—परमहंसों का जो श्रवण कीर्तन आवश्यक धर्म है उसके पालक परमहंसों में साङ्ख्यायन मुख्य है। इस कारण से भगवद्विभूतियों के कहने की इच्छावाले इनने, मिले हुए मेरे गुरु पराशर को वृहस्पति के स्थान पर कहा ॥८॥

सुबोधिनी—सांख्यायन इति। स हि पारमहंस्यधर्मे मुख्यः। परमहंसानां श्रवणकीर्त्तनमावश्यकम्। अतो **भगवद्विभूतीर्विवक्षमाणो** वक्तुमिच्छन् **अन्वितायमिलितायाऽस्मद्गुरवे पराशराय** जगाद। **अन्वितो** योग्यो वा। **अथ** भिन्नप्रक्रमेण। **बृहस्पतेः** स्थाने गत्वा तस्मै चोक्तवान्। बृहस्पतेरत्र निरूपणं देवलोके भागवतप्रचारार्थम्। ब्रह्मा सनकादयश्च उपरितनलोकेषु सन्त्येव; ध्रुवपर्यन्तं बृहस्पतिः, भूमौ पराशरः, पाताले संकर्षण एवाऽस्ति। अतश्चतुर्दशसु भुवनेषु भगवच्चरित्रं भागवतं व्याप्तमस्तीत्युक्तम् ॥८॥

व्याख्या—परमहंसों का आवश्यक धर्म श्रवण और कीर्तन है उसके पालक परमहंसों में सांरव्यान मुख्य है क्योंकि वह मुख्य रूप से विशेषतया परमहंसों के धर्म का ही पालन करता था, इसलिए ही इसको भगवद्भूतियों के वर्णन की इच्छा हो रही थी, संयोग से मेरे गुरु पराशर जो सुनने के योग्य अधिकारी थे वह मिल गये।

'अथ' शब्द से भिन्न प्रक्रम की सूचना की हैं अतः ब्रहस्पति के स्थान पर कहने का आशय है कि देवलोक में भी भागवत का प्रचार हो, ब्रह्मा और सनकादिक ऊपर के लोकों में विराजते ही हैं। ध्रुवलोक पर्यन्त ब्रहस्पति है, पृथ्वी पर पराशर एवं पाताल में संकर्षण स्वयं विराजते हैं। इससे यह सिद्ध होता है चौदह लोकों में भागवत व्याप्त है ॥८॥

आभास—पराशराद्भूमौ प्रचारमाह—

आभासार्थ—भूमि पर भागवत का प्रचार पराशर से हुआ जिनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।**
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स ! श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥९॥

श्लोकार्थ—हे वत्स ! पुलस्त्य की आज्ञा के अनुसार उस दयालु मुनि ने मुझे जो आद्यपुराण कहा वह पुराण मैं मेरे नित्य अनुयायी तथा मुझ में श्रद्धा वाले तुम (मैत्रेय) को कहता (सुनाता) हूं ॥६॥

सुबोधिनी—प्रोवाचेति । **मह्यं** मैत्रेयाय। **दयालुरिति** स्वस्य तथाऽधिकाराभावः उक्तः। **मुनिरिति** अग्रे प्रचरणज्ञानम्। **स** इति। प्रसिद्धः पराशरः, यः सप्तवार्षिकोऽपि मार्कण्डयापेक्षयाऽपि वयसा वृद्धो, गर्भे च वेदाध्येता, पूर्णज्ञानः। **पुलस्त्येनोक्तः** पुराणं वक्तव्यमित्याज्ञप्तः। "पराशरः स्वपितरं शक्तिं राक्षसभक्षितं श्रुत्वा राक्षससत्रे सर्वण्येव रक्षांसि हतवान्; अतः स्ववंशरक्षार्थं पुलस्त्यः समागत्य राक्षससत्रनिवृत्त्यर्थं प्रार्थयत्। ततो निवृत्ताय पराशराय वरो दत्तः 'पुराणाचार्यो भव' इति।" अन्यथा अनधिकृतः पुराणं वक्तुं न शन्कुयात्। तत उक्तं **पुलस्त्येनोक्त इति**। **आद्यं** भागवतम्, पुराणप्रवृत्तौ प्रथमोत्पन्नाय ब्रह्मणे भगवता प्रथमत एवोक्तम्। विष्णुपुराणं तु भागवतसंबद्धप्रमेयमेव, व्यासे शाखाभेदवत्। विष्णुपुराणे मैत्रेयपराशरकथा निरूपिता, तच्च वृत्त्यर्थमाद्यमित्युक्तम्; अन्यथा विष्णुपुराणे नेयं परम्परा निरूपिता। **सोऽहं** गुरुकृपानुगृहीतस्तव श्रोतृसंबन्धित्वेन **एतद्भागवत कथयामि**। वर्तमानसमीप्ये वर्तमानप्रयोगः। **वत्सेति** स्नेहः कथने हेतुः। भगवदाज्ञा तु तावन्मात्र एव। **मर्यादारक्षार्थमधिकारे** विशेषणद्वयमाह—**श्रद्धालवे नित्यमनुव्रतायेति**। श्रद्धा मुख्याधिकारः, नित्यं चाऽनुव्रतत्वम् इच्छानुरूपनिरन्तरसेवा। अन्तर्बहिरधिकारहेतू श्रद्धासेवे ॥६॥

व्याख्या—'मह्यं' पद से 'मैत्रेयाय' कहा है मुझे अर्थात् 'मैत्रेय' को पराशर के लिये 'दयालु' विशेषण देने का भावार्थ है कि मैं मैत्रेय) भागवत श्रवण का अधिकारी नहीं हूं तोभी गुरु ने दयाकर मुझे भागवत सुनाया है। 'मुनि' विशेषण से यह सूचित किया है कि इसके द्वारा पृथ्वी पर भागवत का प्रचार होगा 'स' पद से बताया है कि वह पराशर, जो प्रसिद्ध है, जो पराशर सात वर्ष का भी मार्कण्डय की अपेक्षा आयु में वृद्ध है और सम्पूर्ण ज्ञानवान है कारण कि उसने गर्भ में ही वेद पढ़े हैं, पुलस्त्य ने पराशर को यह आज्ञा दी कि पुराण कहने चाहिये अर्थात् तुम पुराण (भागवतादि) का प्रचार करना "पराशरःस्वपितरं शक्तिं राक्षस भक्षितं श्रुत्वा राक्षस सत्रे सर्वण्येव रक्षांसि हतवान्" अर्थात् पराशर ने जब सुना कि राक्षसों ने मेरे पिता शक्ति का भक्षण किया है तब राक्षस सत्र में सर्व राक्षसों का संहार करने लगे, यह देख कर पुलस्त्प ने आकर अपने वंश के रक्षार्थ स्वयं वा वशिष्ठ द्वारा राक्षस सत्र की निवृत्ति के लिये प्रार्थना की, जिससे पराशर ने इस कार्य से निवृत्ति ली, तब निवृत्त पराशर को वर दिया कि 'पुराणाचार्योभव' 'पुराणाचार्य बनो' अर्थात् तू (पराशर) पुराणवक्ताओं में मुख्य होगा अथवा लोक में पुराण (भागवत) का प्रचार हो तदथ अन्यों को भागवत पढ़ाओगे जिससे आप 'पुराणाचार्य' कहे जायेंगे। यदि इस

प्रकार वर प्राप्ति न होती तो अधिकार के न होने से पराशर पुराण कह (सुना व पढ़ा) नहीं सकते थे, इसलिए श्लोक में 'पुलस्त्येन उक्त:' कहा है 'आद्यं' पद से भागवत समझना चाहिये, पुराण का प्रारम्भ होते हुए प्रथम उत्पन्न ब्रह्मा को भगवान् ने पहले ही जो पुराण कहा वह 'भागवत' है 'विष्णुपुराण' तो जैसे व्यास ने वेद की शाखाएं (विभाग) की वैसे विष्णुपुराण भी भागवत की कथाओं से सम्बद्ध प्रमेयरूप ही है, विष्णुपुराण में मैत्रेय और पराशर की कथा का निरूपण है। उस (विष्णुपुराण) में कही हुई परम्परा के निराकरण के लिये, भागवत को 'आद्य' कहा है, यदि भागवत आद्य (सब से पहले) न होता तो विष्णुपुराण में इस प्रकार की परम्परा न कही जाती।

गुरुकृपा से अनुग्रहित मैं श्रोता बने हुए तुमको यह भागवत कहता हूँ, 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमान प्रयोग:' व्याकरणानुसार जो कार्य समीप में होने वाला हो, उसमें भी वर्तमान प्रयोग किया जा सकता है।

वत्स ! यह सम्बोधन स्नेह प्रकट करने के लिये दिया है। भगवान् की आज्ञा तो जितनी कही है उतनी ही थी, किन्तु तुम्हारी श्रद्धा तथा सेवापरायणता विशेष कहलाती है। मर्यादा रक्षा के लिये दो विशेषण देकर अधिकार सिद्ध किया है १–श्रद्धालवे २–नित्यम नुवृताय, 'श्रद्धा' के कारण मुख्य अधिकार प्राप्त है, गुरु की इच्छा या आज्ञानुसार नित्यसेवा भी अधिकार प्राप्त में कारण है। श्रदा से अन्तरङ्ग और सेवा से बाहर के अधिकार की प्राप्ति हुई है ॥६॥

आभास—एवं परम्परां प्रतिज्ञां चोक्त्वा पुराणमारभते—

आभासार्थ—इस प्रकार परम्परा एवं प्रतिज्ञा कह कर पुराण प्रारम्भ करते[1] हैं

१—इस विषय में शुकदेव जी का आशय इस प्रकार समझना चाहिये, द्वितीय स्कन्ध के आठवें अध्याय में 'आसीद्यदुदरात् पद्मं (२–८८) इत्यादि श्लोकों से जो हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाले सर्वरूपात्मक सम्बन्धी जो प्रश्न किये उनका समाधान तृतीय स्कन्य के नवमाध्याय की चतु:श्लोकी (श्लोक ३२ से ३५ तक) में किया है वह ब्रह्म कल्पानुसारी है, अनन्तर (२ स्कन्ध, ६ अध्याय, ४५ श्लोक में) विराट् से जगदुत्पत्ति जैसे हुई वह और अन्य सम्पूर्ण प्रश्नों के उत्तर देने की प्रतिज्ञा की, तथा दशमाध्याय में महापुराण के दशलक्षण कहकर, विराट् से सृष्टि की उत्पत्ति कहते हुए ब्रह्मकला के विकल्प का संशय उपस्थित किया। २-१०-४६ इससे सामान्यत: सर्व प्रश्नों का उत्तर आ गया तो भी विशेष प्रकार से उनका समाधान नहीं हुआ, इसलिए सम्पूर्ण समाधान के लिये (२-१०-४७ में) पद्म कल्प की कथा कहने की प्रतिज्ञा की और तृतीय स्कन्ध के प्रारम्भ में 'एवमेतत्पुरापृष्ट:' इस श्लोक से विदुर मैत्रेय संवाद द्वारा आद्य (भागवत) पुराण (महापुराण) का उसके (मैत्रेय) के मुखसे प्रारम्भ करवाया, इस आद्य पुराण में मुक्ति और आप्त सम्पति पूर्वक पद्म कल्प की सृष्टि में कहे हुए समस्त प्रश्नों के उत्तर आ जायेंगे वह उत्तर इस श्लोक से देना आरम्भ करते हैं। (प्रकाश)

श्लोक--उदप्लुतं विश्वमिदं तदाऽऽसीद्यन्निद्रया मीलितदृङ् न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधियान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ॥१०॥

श्लोकार्थ--अलुप्तज्ञान शक्तिवाले, शेषरूप पलङ्ग पर पौढ़े, हुए अपने स्वरूप में रमणेच्छु, अकेले, अक्रिय भगवान् ने जब निद्रार्थ नेत्रों को बन्ध किया तब विश्व जल में डूबा था ॥१०॥

सुबोधिनी– **उदप्लुतमिति** । पुराणं हि दशलीलायुक्तम्, तत्रादौ सर्गो वक्तव्यः । स च भागवतत्वात् भगवत्कृतः । तत्र तत्पृष्टानामर्थानां ब्रह्मकल्पेऽभावात् कल्पान्तरानुसारेण वक्तव्यम् । यद्भगवतैव कृतम्, तच्चरित्रं पद्मकल्पे वर्त्तत इति तन्निरूपणार्थं पूर्वकल्पस्य प्रलयानन्तरस्थितिमनुवदति, उदकेन प्लुतं सर्वमेव विश्वमासीदिति । बहुविधा हि प्रलयाः । तामसेषु कल्पेषु तामसानि भूतानि दह्यन्तेऽग्निमसृष्ट्यर्थम्, राजसेषु तु प्रलयजलेन निमग्नानि भवन्ति, सात्त्विकेषु तु स्थिता एव पदार्था एकदेशेन निवृत्ता अवशिष्यन्त एव, यद्यग्रेऽपि सात्त्विक एव कल्पो भवति । तत्र पद्मकल्पात् पूर्वकल्पो राजस इति **उदप्लुतमित्युक्तम्** । इदं विश्वं पूर्वमुदप्लुतमासीत् । **इदमिति** सर्वदा विश्वमेकविधमेवेति वृक्षवत् प्रवाहानादित्वं निरूपितम् । **तदेति** पूर्वप्रलये । तस्य प्रलयस्य निमित्तमाह–**यन्निद्रयेति** । **यद्यदा** निद्रया भगवच्छक्त्याऽलुप्तज्ञानशक्तिरेवा-**ऽमीलितदृक् न्यमीलयत्** अक्षिनिमीलनं कृतवान्, निमीलिताक्षो जागर्त्तीत्यर्थः । नन्वेवं स्थितौ को गुण इत्याशङ्क्याऽऽह **स्वान्मरतौ कृतक्षण इति** । **'कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम् ।'** इति सृष्टिप्रलयकरणे निमित्तमुक्तम् । **आत्मरता** वात्मनि क्रीडायां स्वरूपानन्दरमणे स्वरूपानन्दः पूर्णानन्दः,अक्षरानन्दस्तु लक्ष्मीरूपः पूर्वं निरूपितः । स च भगवान् व्यापिवैकुण्ठेऽपि कदाचिल्लक्ष्म्या सह क्रीडति, कदाचित्स्वानन्दमेवाऽनुभवति । बीजधर्म एव सवत्र कायपरम्परायामातृणस्तम्बपर्यन्तम्; तथाप्यंशकार्येषु यादृशमेव बही रमणं तादृशमेवान्तारमणम् । क्रिया बहीरमणेऽभिवृद्धिकरी, ज्ञानं त्वन्तः; अन्योन्यबाधकत्वं च । सर्वेहोपरतिरेवाऽऽत्मानन्दानुभवेऽङ्गम् । तदाह–**निरीह इति** सर्वचेष्टारहितः । यथा पुरुषत्वे तुल्येऽपि रङ्कमहाराजयोर्बहिर्भोगातिशयस्तथाऽऽत्मन्यपीति । यावदेवाऽऽत्मत्वेन जानाति, तावदेवाऽऽत्मसुखं वर्द्धते । यथा यथा परिच्छिनत्ति, तथा तथाऽल्पो–भवति । इदमेव भगवान् सृष्टिप्रलयाभ्यां बोधयति । एक इति तत्सुखमखण्डमेकेनैवाऽनुभूयत्ते । क्रियायां प्रयत्नव्यावृत्त्यर्थमधिशयानो जातः । तल्पकृतपीडानिवृत्त्यर्थमहीन्द्रतल्पे शेषपर्यङ्के । स हि भगवच्छ्वासोत्थवायुपानेन प्रतिक्षणं तुङ्गः कोमलश्च भवति, अत एव बहुकालं शयानो भवति ॥१०॥

व्याख्या—'पुराण' में भगवान् की दशलीलाऐं कही जाती है । उसमें से प्रथम 'सर्ग' लीला कहनी चाहिये । वह सर्ग भगवत्सम्बन्धी होने से भगवान् ने ही की ।

विदुर ने जो विषय पूछे हैं वे ब्रह्मकल्प में नहीं हैं अतः जिस कल्प में इन विषयों का उत्तर हो उसे अन्य कल्पानुसार इनका उत्तर देना चाहिए, जो भगवान् ने ही किया है, वह चरित्र पदम कल्प में किये हुए हैं, इसलिए उनके निरूपण के लिए पहिले कल्प के प्रलय के बाद की स्थिति का वर्णन करते हैं कि, उदप्लुतं' ब्रह्म कल्प जब पूरा हुआ तब सर्व विश्व जल में डूबा हुआ था। प्रलय अनेक प्रकार के होते हैं।

तामस कल्पों में आगे की सृष्टि रचने के लिए तामस भूतों को अग्नि से जलाकर भस्म कर दिया जाता है, राजस कल्पों में प्रलय जल में विश्व को डुबोया जाता है, सात्विक कल्पों में स्थित पदार्थों का थोड़ा भाग ही नाश होकर शेष तब बच जाता है जबकि फिर आगे भी सात्विक कल्प ही होता है इससे अर्थात् जल में डूब जाने से जाना जाता है कि पद्म कल्प से पूर्व कल्प राजस कल्प था इसलिए 'उदप्लुतं' कहा है ,उदय' पद कह कर यह भाव प्रकट किया है कि 'विश्व सर्वदा एक तरह का ही है अतः वृक्ष की तरह विश्व प्रवाह भी अनादि हो है 'तदा' पद से यह सूचित किया है कि इस सृष्टि से पहले हुई प्रलय में जब अलुप्त ज्ञानशक्ति भगवान् ने अपनी निद्रा शक्ति से नेत्र बन्द किए तो भी जागते रहते थे।

इस प्रकार की स्थिति में रहने से कौनसा गुण (लाभ) प्राप्त होता है? इस शङ्का निवृत्ति के लिए कहते हैं कि 'स्वात्मरतौ कृत क्षणः' भगवान् ने अपने स्वरूप में ही (आन्तर रमण करने की) क्रीड़ा (रमण) करने की इच्छा की ऐसी स्थिति में रहने से यह लाभ प्राप्त किया।

ब्रह्म सृष्टि एवं प्रलय क्यों करते हैं? यों करने का क्या कारण है? इस शङ्का का उत्तर 'कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चऽपि क्वचिन् सुखम' इस श्लोक द्वारा देते हैं कि जब ब्रह्म को प्रपञ्च में (बाहर) रमण की इच्छा होती है तब सृष्टि करते हैं और जब स्वरूपानन्द में रमण (आत्मरमण= भीतर रमण) की इच्छा होती है तब प्रपञ्च का लय करते हैं, इस प्रकार दोनों प्रकार के रमण सुख पूर्वक करते हैं यही सृष्टि एवं प्रलय करने का कारण है।

स्वरूपानन्द का आशय है 'पूर्णानन्द' अक्षरानन्द जो लक्ष्मी रूप हैं जिसका निरूपण पहले किया गया है और वह भगवान् व्यापि वैकुण्ठ में भी कभी लक्ष्मी से क्रीड़ा करते हैं। कभी अपने स्वरूप के आनन्द का ही अनुभव करते हैं। कार्य परम्परा में तृण से लेकर स्तम्बपर्यन्त, बीज धर्म की ही सर्वत्र प्रतीति होते है, यों होते हुए भी अंश कार्यों में जैसा बाहर का रमण होता है वैसा ही आन्तर रमण भी होता है, बाहर के रमण में क्रिया सफलता कराती है अर्थात् बाहर के रमण में क्रिया ही आनन्द को बढ़ाती है और आन्तर रमण में ज्ञान आनन्द को बाढ़ाता है, ये दोनों प्रकार के रमण अपनी-अपनी अवस्था में एक दूसरे को दबा देते है, जिससे उस उस स्थिति का आनन्द पूर्ण हुआ जानने में आता है अस्मानन्द अर्थात्

स्वरूपानन्द के अनुभव का अङ्ग सर्व प्रकार की ईहा (इच्छाओं) का त्याग है, यह 'निरीह' (अर्थात् चेष्टा रहित) पद से सूचित किया है, जैसे रङ्क (गरीब) और महाराजा में पुरुष पन समान है तो भी उनके बाहर के भोग में विशेष भेद होता है। वैसे ही आत्मस्वरूप के रमण में भी, जब तक आत्मापन से जानता है तब तक ही आत्मसुख बढ़ता रहता है जैसे-जैसे भेद बढ़ता है वैसे-वैसे वह आनन्द कम होता है सृष्टि और प्रलयलीला द्वारा भगवान् यही समझाते हैं 'एक' पद से यह सूचित किया हैं कि उस अखण्डानन्द सुख का अनुभव एकाकी अवस्था में ही होता है 'अधिशयान' पद से यह बताया है कि भगवान् जब क्रिया शक्ति का कार्य नहीं करते हैं तब कहा जाता है कि प्रभु पौढ़े हैं, प्रभु पौढ़ना तमोगुण वाली निद्रा नहीं है। शय्यापर सोने से (पोढ़ने से) जो कष्ट होता हैं वह प्रभु को नहीं था क्योंकि 'प्रभु' शेष शय्यापर पोढ़े थे, वह शेष, भगवान् के श्वासों द्वारा जो वायु उत्पन्न होती थी उसका पान करता था, जिसमे वह शेष प्रतिक्षण बढ जाता अतः कोमल हो जाता था जिस कोमलता के कारण कष्ट नहीं होता था, इस कारण से ही भगवान् विशेष समय पोढ़ते हैं[1] ॥१०॥

१—'पुराण' शब्द से श्रीमद्भागवत महापुराण समझना चाहिये। अनुवाद करने का क्या प्रयोजन है ? इस पर 'बहुविधाः' पद दिया है, प्रलय अनेक प्रकार से होती है अर्थात् प्रत्येक कल्प में प्रलय का पृथक पृथक् रूप होता है, यही अनुवाद करने का प्रयोजन है।

वहाँ पहले 'स चापि यत्र' श्लोक (२-८-१०) में ईश्वर और जीव की अवस्था समान होने से ईश्वर भी जीव जैसे हैं इस आक्षेप के निवारणार्थं पहले इस आक्षेप का विशेष प्रकार से समाधान करना चाहिए, इसलिए पहले भगवान् तथा जीव के सुषुप्तिका भेद बताने के लिए 'तस्यप्रलयस्य' पंक्ति कही है जिसका भावार्थ (भेद) प्रकट करने लिए सुषुप्ति-काले सकले विलिने तमोऽभिभूतः सुखरूपयेति' इस श्रुति द्वारा जीव सुषुप्ति काल में तमोगुण से पराभव (हाराहुवा) होता है, भगवान् नहीं होते हैं यह एक भेद बताया।

स्वात्मरतौ कृतक्षणः अपने आत्म स्वरूप में ही आनन्दार्थ इच्छावाले इसके अर्थ (तात्पर्य) समझने के लिए कहते हैं 'कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चऽपि क्वचित् सुखम्' इससे सृष्टि और प्रलय करने का कारण बताया है, 'आत्मनि' इत्यादि 'सतासौम्य ! तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुत्यनुसार जीव जब सत् से मिलता हैं तब आनन्द वाला होता है अन्यथा स्वतः सुखी (आनन्द वाला) नहीं जब सत् के पास सुषुप्तिकाल में जाने से सुख प्राप्त करता वह सुख भी अपूर्ण है, और अनित्य है भगवान् में तो स्वतः पूर्ण सुख सदैव है, यह जीव एवं भगवान् में दूसरा भेद है।

इस प्रकार ब्रह्माण्डान्तर में ही होगा न कि मूल धाम में भी होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए अक्षरानन्द तो लक्ष्मी रूप है अतः भगवान् व्यापि वैकुण्ठ में भी कदा-चित् लक्ष्मीजी से भी रमण करते हैं अर्थात् अक्षरानन्द रमण करते हैं।

आभास—तर्ह्यग्रे सृष्टिर्न स्यात् इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—जब भगवान् इस प्रकार स्वतः आत्मरमण में संलग्न होने से विघ्नरहित महासुख का अनुभव करते हैं तो फिर सृष्टि रचने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है जिससे 'सृष्टि' रचना नहीं कहानी चाहिये, इस शङ्का को मिटाने के लिये निम्न श्लोक में भववान् क्यों शयन करते हैं ? उसके साधन और प्रयोजन बताते हैं—

श्लोक—सोऽन्तः शरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिमुदीयाणः ।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे यथाऽनलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥११॥

श्लोकार्थ—शरीर के भीतर सूक्ष्म भूतों को स्थापित करने वाले वह ब्रह्म अपनी कालात्मिका शक्ति को प्रेरणा करते हुए, जैसे की दहनशक्ति वाली रुकी हुई अग्नि काष्ठ में रहती है वैसे ही आप (ब्रह्म) अपने स्थान जल में रहे ॥११॥

सुबोधिनी—सोऽन्तरिति। शरीरं त्वानन्दमयमिति पूर्वं निरूपितम्, सदानन्दमयं वा। सच्चिदानन्दरूपमिति वस्तु स्थितिः। पुरुषस्य साद्वाह्यम्, मध्ये ज्ञानम्, आनन्दस्त्वन्तः; स्त्रियास्तु विपरीतम्, तस्याः सत्येव रतिनत्वानन्दे कदाचिदपि। अन्तः साङ्ख्ययोगज्ञानाधिकार एव तस्याः, बहिर्भक्तेश्च। पुरुषस्य तु विपरीतम्। आनन्दानुभवस्तस्यान्तर एव युक्तो न बाह्ये; भेदकरणप्रसङ्गात्, आनन्दस्य स्वस्थानत्यागाच्च। न तादृशानन्दोऽनुभवयोग्यः। भगवत्यपि तथा, बीजत्वात्। स हि भावस्त्रिषु परिवर्त्तत इति। सच्चिदानन्देषु नैकत्रैव स्थितिः, अन्यथा तादृग्रूपवैयर्थ्यापत्तेः। अनुस्यूतस्तु तदात्मक एव नित्यसिद्धिः। अतः सति रमणेऽक्षरानन्दं पृथक्कृत्य लक्ष्म्या सह रमते, चिति रमणे सदानन्दौ तस्याऽन्तर्बहिर्निधाय बाह्याभ्यन्तरभेदेन रमते। तत्र प्रपञ्चो वेदाश्च रमणसाधनम्। स्वकृतप्रपञ्चेऽप्येतदुभयं करोति, ते कल्पप्रलया इत्युच्यन्ते। तत्राऽधिकारिणः कालस्य नियामकत्वात्, भगवदेकसम्भोगसम्पादकत्वाच्च, अंशानां भोगा मा भवत्विति तद्विषयानन्तः प्रवेश्य शेते। तदाह—अन्तः शरीरेऽर्पितानि भूतसूक्ष्माणि यनेति। चिदंशान् सर्वानेव यथायथं स्थापयित्वा स्वात्मानुभवं करोतिति। तेषामतिक्रमनिवृत्त्यर्थं **कालात्मिकां शक्ति** संहारिकामुदीरयाणः, अलीनां कुर्वाणः प्रेरयमाणः। **तस्मिन् सलिले स्वे पदे** नारायणस्य स्थानभूते। तस्मिन् पूर्वोक्ते उवास स्थितः। अयमंशः पूर्वोक्तांद्विशेषः। अवान्तरकल्पत्वादल्पप्रयत्नव्यापारान्नामनिर्वर्तकत्वाच्च सलिलानुग्रहः। अतोऽस्मदादिः स्वसच्चिदानन्दांशेषु रमणे शीघ्रं परमपुरुषार्थपर्यवसानाभावात् कारणे सति रतिं कुर्वीत। ननु बहिःस्थितानां पदार्थानामन्तः स्थापितत्वात् कालस्य च विद्यमानत्वात् सर्वं जगद्बहिरागच्छेत्। तत्राऽऽह—**यथाऽनलो दारुणि रुद्धवीर्य इति**। कारणे तादृशं रूपमस्तीति ज्ञापयितुं कार्ये तादृशं रूपं दृष्टान्तीकृतम्। यथा तस्य दाहकशक्तिर्निरुद्धा, तथा कालादीनामपि स्वस्याऽपि शक्तिर्निरुद्धा ॥११॥

व्याख्या—शरीर तो आनन्दमय (आनन्द की निधि) है एवं सत् तथा आनन्दरूप भी है यों पहले (ब्रह्म कल्प मे) निरूपण किया गया है । भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं यह वस्तु स्थिति है अर्थात् वास्तविक स्थिति है पुरुष का 'सत्' बाहर है, ज्ञान मध्य में है और आनन्द तो भीतर होता है । स्त्री में इससे विपरित होता है जिससे सत् स्त्री के भीतर रहता है और आनन्द बाहर होता है इस कारण से स्त्री की सत् में प्रीति होती है आनन्द में कभी नहीं होती है उसको अन्दर से साङ्ख्य योग और ज्ञान का अधिकार ही है भक्ति का अधिकार बाहर से है, इस विषय में स्त्री से पुरुष का विपरीत विचरण होता है जैसे कि आनन्द का अनुभव पुरुष को भीतर ही उचित है न कि बाहर क्योंकि यदि वैसा होवे तो आनन्द को अपना स्थान त्याग करना पड़े जिससे आनन्द और प्रीति पृथक् हो जाने का अवसर आ जाय, फिर ऐसा आनन्द अनुभव योग्य नहीं रहता है, भगवान् में भी वैसे ही, क्योंकि भगवान् बीजरूप है, वह ही भाव तीनों अवस्थाओं में फिरता रहता है इसलिए उसकी सत् चित और आनन्द में एक ही स्थान पर स्थिति नहीं रहती है अन्यथा अर्थात् एक ही स्थान में रहे तो वैसे स्वरूप की व्यर्थता देखने में आवे, सर्व में अनुस्थान तद्रूप होने से ही नित्य सिद्ध है ।

अतः जब सत् में (जाग्रत अवस्था में) रमण करते है तब अक्षरानन्द को पृथक् कर लक्ष्मी से रमण करते हैं, जब 'चित' में (स्वप्न में) रमण करते है, तब सत् को चित् के भीतर और आनन्द को उससे (चित् से) बाहर रखते हैं वाह्य और अन्तर भेद से दो प्रकार के रमण करते हैं, उस रमण में प्रपञ्च तथा वेद. रमण के साधन हैं, अपने बनाये हुए प्रपञ्च में भी ये दो[1] करते हैं वे कल्प के प्रलय कहे जाते हैं ।

उसमें अधिकारी काल नियामक है और वह काल केवल भगवान् के भोग का सम्पादन करता है जिसमे अंश भोग न कर सके इसलिए उसके विषय के भीतर प्रविष्ट कर पौढ़ते है, यह भावार्थ 'अन्तः शरीरेऽमिति भूतसूक्ष्मः' पद से कहा है सकल ही ि दंशों को यथायोग्य स्थानों में रखकर अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं, उनका अतिक्रम न हो सके इसलिए संहारिका कालात्मिका शक्ति को प्रेरणा (जागृत) करते हैं, वैसे कालात्मिका शक्ति के प्रेरक भगवान् ऊपर कहे हुए अपने स्थान रूप जल नारायण का स्थान रूप है उसमें रहने लगे । यह अंश (भाग) ऊपर कहे हुए से पृथक् है । यह मध्यम कल्प स्वल्प प्रयत्न वाली क्रिया वाला होने से तथा नाम निर्वर्तक होने से भगवान् ने जो कल्प में जन्तु पर कृपा की है ।

अतः यदि हम लोग अपने सत, चित् और आनन्द में इस समय रसण करें तो शीघ्र परम पुरुषार्थ सिद्ध न होगा इसलिए जब रमण का कारण हो तब रमण करना चाहिए ।

१—वेदों से आन्तर रमण और प्रपंच से बाहर रमण, ये दो रमण करते हैं ।

बाहर के सर्व पदार्थों को अन्दर (भीतर) स्थापित हो जाने से और काल के विद्यमान होने से तो सारा जगत् बाहर निकल आएगा ? इस शङ्का का निवारण दृष्टान्त देकर करते हैं कि जैसे अग्नि की दाहक शक्ति विरुद्ध होने से काष्ठ में स्थित अग्नि बाहर प्रकट न हो सकती है, वैसे ही कालादि की अपनी शक्ति भी निरुद्ध है, जिससे जगत् बाहर नहीं निकल सकता है ॥११॥

❀ आचार्य श्री ने श्लोक में दिये हुए 'सः' पद की व्याख्या नहीं की है जिसका कारण प्रकाशकार प्रकट करते हैं, पूर्व श्लोक में शयन का जो कारण कहा है कि भगवान् को जब इच्छा होती है कि जगत् प्रकट कर बाहर (प्रपञ्च में) रमण करूं तब जगत् की रचना करते हैं अतः अर्थबल से यह ज्ञान होता है कि रमण का कारण इच्छा विशेष ही है। इसलिए 'स' पद की व्याख्या नहीं की है अर्थात् 'स' पद से पूर्व श्लोकोक्त भगवान् समझना चाहिये।

कारण बनी हुई इच्छा के प्रकार समझाने के लिए दूसरे पदों का आशय प्रकट करेंगे (करते हैं) 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इस श्रुति के अनुसार भगवान् केवल आनन्दघन है जिससे अर्थात् आनन्दघनरूप होने से आप (भगवान्) में बाह्य और आन्तरभाव नहीं है, तो फिर 'अन्त.शरीरं' कैसे कहा ? इस आकाङ्क्षा के होने पर पहले स्वरूप की स्थिति कहते हैं, 'शरीरं.....इत्यादि' 'पूर्वं' अर्थात् ब्रह्मकल्प में आनन्दमय अथवा सदानन्दमय स्वरूप है। यह वास्तविक स्थिति है, जिसमें प्रमाण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति है, अर्थात् ब्रह्म, सत्य, ज्ञान एवं अनन्त (आनन्द) रूप हैं। इस श्रुति ने ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बताया है।

ब्रह्म जब जैसी इच्छा करते हैं तब वैसे ही प्रकट हो जाते हैं इसलिए उनकी इच्छा से ही सत् आदि उनके भीतर रह जाते हैं यह बताने के लिये 'स आत्मानमेव द्वेधाऽपायत् ततः पतिश्च पत्नि चाभवताम्' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म ने सृष्टि के समय में अपने को दो भागों में बांटा तब एक भाग पुरुष और एक भाग स्त्री बना, इस प्रकार श्रुति में कहे गये शरीर के दो प्रकार होने से और प्रकृत विषय में योगमाया द्वारा की हुई व्यवस्थावाली लीलाएं कहनी हैं और योगमाया स्त्री है, दोनों शरीरों में भी सत्. चित् और आनन्द हैं, ऐसी स्थिति की व्यवस्था कहते हैं, 'पुरुषस्य[1].....स्त्रियास्तु विपरीतम्'[2] पांच कोश का विचार करने वाली श्रुति से पुरुष देह में वैसे ही सिद्ध हैं, स्त्री देह में सामान्यरीति से यों होते हुए भी 'विलोक्यैकान्तभूतानि', इस वाक्यानुसार पुरुष की बुद्धि का हरण

१–सत् बाहर, चित्त (ज्ञान) मध्य में और आनन्द भीतर है।
२–स्त्री देह में (ये सत् आदि) विपरीत हैं। 'प्रकाश'

❀ करने के लिए ही स्त्रीदेह बनाई गई है, बुद्धि का हरण प्रीति (प्रेम) के बिना हो नहीं सकता है. प्रेम आनन्द का ही धर्म है, अतः स्त्री आनन्द (आनन्दाभास-लौकिकानन्द) रूप होने से ही स्त्री, पुरुष से विपरीत धर्म आदि, वाली है, अतः पुरुष से स्त्री की रति भी विपरीत है यों स्पष्ट करते हैं 'तस्या.....आदि' उसकी (स्त्री की) सत् में ही रति है, कारण कि स्त्री का सदंश भीतर है इसलिए उसमें उसकी (स्त्री की) रति है। स्त्री का अन्तरधर्म सत् है अतः उसमें ही उसकी उत्पत्ति होती है, आनन्द किसी भी बुद्धि[1] की अवस्था में नहीं है और पुरुष को तो जाग्रत अवस्था में ही स्त्री शरीर के सम्बन्धी आनन्द में बाहर से प्रीति होती है। सुषुप्ति में सत् की सम्पत्ति होने से भीतरी आनन्द में रति होती है, स्वप्रेम भी बाहर के पदार्थों में अभिमान होने से आनन्द ही मिलता रहता है। स्त्री को तो जाग्रत और स्वप्न में पुरुष के देह रूप सत् में ही प्रीति होती है अर्थात् उससे आनन्द प्राप्ति होती है। केवल सुषुप्ति अवस्था मे प्राज्ञ रूप सत् में आनन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार बन्ध अवस्था की व्यवस्था का प्रकार कहकर अब कहते हैं कि मुक्ति की अवस्था में भी जैसे स्त्री को अनुभव होता है वैसे पुरुष को नहीं होता है वह पृथक पृथक् कैसे होता है ? उसकी साधन व्यवस्था 'अन्तःसाङ्ख्येत्यादि' द्वारा बताई है, जिसका प्रयोजन आगे यहां ही कहेंगे।

इस प्रकार व्यवस्था को कहकर अपनी (आत्मा की) रति की उत्कृष्टता के लिए कहते हैं। 'आनन्दानु.....इत्यादि' पुरुष को भीतर आनन्द प्राप्ति होती है और 'रति' उस (आनन्द) का ही धर्म है, इसलिए रति का आनन्द से सम्बन्ध होने से दोनों आन्तर होने से एक ही स्थान में रहते हैं जिससे आनन्द का विशेष अनुभव होता है इस प्रकार उनकी वहां स्थिति ही उचित है, जब बाहर भी उनका अनुभव समान हो सकता है तो बाहर क्यों नहीं उचित कहा जावे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'नबाह्य इत्यादि' बाहर वैसी आनन्द प्राप्ति नहीं बन सकती हैं क्योंकि यदि उस (रति) को बाहर निकाला जावे तो दोनों में भेद हो जायगा अर्थात् दोनों जुदे जुदे हो जायँगे और यदि आनन्द को भी बाहर निकाला जाय तो आनन्द को अपना स्थान त्याग करना पड़ेगा, अतः वह उचित नहीं है, इस विषय में श्रुति द्वारा अनुभव को प्रमाण रूप में देते हैं। 'यथाप्रियया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरमिति' 'तत्रस्थितो न कश्चन कामयते, न कश्चन स्वप्नं पश्यति' अर्थ—जैसे भीतर (एकान्त में) प्रिया द्वारा आलिङ्गित पुरुष उस समय बाहर के

१—जाग्रत् अवस्था में।

❀ वा भीतर के किसी विषय को नहीं जानता है और ऐसी स्थिति में कुछ कामना भी नहीं करता है और न किसी प्रकार का स्वप्न देखता है, केवल आनन्दानुभव ही करता है वैसे ही भीतर धर्म और धर्मी के साथ में रहने पर जो आनन्द प्राप्त होता है वह धर्म, धर्मी के पृथक् हो जाने पर नहीं होता है।

इस अपनी रति का उत्कर्ष सिद्ध कर बताया है कि समानता होने से प्रकृत विषय में भी यही नियम सिद्ध होता है इस पर कहते हैं 'भगवति अपि तथेत्यादि' जैसे पुरुष में सत्, चित और आनन्द में वाह्याभ्यन्तर (बाहर और अन्दर) भाव है और जैसे अपनी रति उत्कृष्ट है, वैसे भगवान् में भी है क्योंकि भगवान् बीज है, इस प्रकार अपनी रति का बीज कहकर उसको त्याग कहते हैं। 'स हि इत्यादि' जिसे कारण से वह रमण करने वाला भाव स्त्रियों में, अवस्था विशेषों में अर्थात् जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में बदलता (फिरता) है। उस कारण से सत्, चित् और आनन्द में एक ही में रति की स्थिति नहीं रहती है किन्तु जहां ही रमणकर्ता की प्रीति की (रति की) इच्छा होती है वहां ही उसकी स्थिति होती है। यों विशेष ही उसके त्याग का बीज है। यहां विशेष स्पष्टता करते हैं। 'अन्यथेत्यादि' यदि यों परिवर्तन न हो सके एक ही स्थान पर रहे तो वैसे रूप की व्यर्थता प्राप्त हो जाय, यदि रमण कराने वाले की इच्छानुसार रति का परिवर्तन न होता हो तो निद्रा ज्ञान की अभिभावक (पराभव) करने वाली होने से भगवान् शयन लीला न करे, जिससे इस प्रकार उससे अर्थात् यों होने पर ही जाग्रत में सत् स्वप्न में चित् और सुषुप्ति में आनन्द को रमण कर्तृत्व है, अतः रति का भी परिवर्तन होता है यों भाव है, यहां फिर शङ्का होती है कि यदि यों होगा तो रमण करने वाले का भाव उसमें नित्य न रहेगा, जिससे लीला भी अनित्य हो जायगी। इस पर कहते हैं कि अनुस्यूतस्तु तदात्मक एव नित्य सिद्धः' उसमें आनन्द अनुस्यूत होने से वह रमण तद्रूप (आनन्द रूप) ही है। अतः इस प्रकार परिवर्तित होते हुए भी नित्य है। इसलिए लीला स्वरूप तथा प्रवाह रूप होते हुए भी आनन्द रूप में अनुस्यूत (मिश्रित) होने से नित्य हैं।

जीव से विलक्षणता बताने के लिये सिद्ध परिकर को 'अतः सतिरमणों' से कहते हैं कि, सत् रमण में (जाग्रत् रमण) चित् रमण में (स्वप्न रमण में) इस प्रकार लीला करते हैं सत् को चिदंश में तिरोहित करते हैं और आनन्द को बाहर प्रकट करते हैं। इससे वह स्त्री के समान हो जाता है अर्थात योगमायारूप होता है तब अक्षरानन्द को पृथक कर लक्ष्मी से रमण करते हैं उस रमण में वेद और प्रपञ्च साधन है अर्थात् चित् रमण में निश्वास रूप वेद साधन है और सत् के रमण में प्रपञ्च साधन है। इस प्रकार सामान्य रूप

❀

से कल्पानुसार सृष्टि और प्रलय दोनों हैं यों व्यवस्था बताई है दोनों दो प्रकार के रमण में जैसे कि कहा है 'स्वकृत प्रपञ्चोऽप्येतदुभयं करोति, ते कल्प प्रलयाइत्युक्तो' इससे अब स्वकृतं (अपने बनाये हुए) प्रपञ्च में विशेष कहते हैं, वेद में भीतर और प्रपञ्च में बाहर रमण करते हैं आदि, 'तत्राधिकरणः .. ..आदि' चित के रमण में अर्थात् स्वप्न रमण में भगवान् के निःश्वास रूप वेद साधन हैं और अधिकारी काल है वह केवल भगवान् के भोग का ही सम्पादक है, अंशभोगों को (सुख-दुःख को) न भोगे, इसलिए भगवान् विषयों को अपने भोतर तिरोहित कर शयन[1] करते हैं। यदि यों न करें तो अंश भी सुख दुःखों के भोक्ता बन जावे तो भोगों को भोगने की शक्ति न होने से धैर्यभाव से अंश सुषुप्ति का सुख प्राप्त न कर सकेंगे। यह विषय श्लोक में 'अन्तःशरोरे-र्पितभूत सूक्ष्मः' पंक्ति से कहा है।

जीव भगवान् के भोगों को देखकर वासना के कारण उनका अतिक्रमण (अनादर) न करें, इसलिए, भगवान् संहार करने वाली कालात्मिका शक्ति को प्रेरणा करते है और आप अपने स्थानभूत (नारायण के स्थानभूत) जल में स्थित होते हैं, वहां स्थितिकाल में सकल चिदंशों को अपने में रखकर आत्मानुभव करते हैं। काल में जो अब प्रेरणात्मक अंश है वह पूर्व श्लोकोक्त निरीहपन से विलक्षण है इससे इतर सर्वतुल्य है, नारायण नाम व्युत्पत्ति प्रमाणानुसार यौगिक है अतः उपर्युक्त सर्व विवेचन मे परिकरों के प्रकार का वर्णन किया है।

'अत इत्यादि अस्मादादि स्वस्य कुर्वीत'। इसकी स्पष्टता करते हैं कि पुंशरीर और स्त्री शरीर अधिकारानुसार भीतर और बाहर के साधनों से रति (प्रीति) को करें, यों शिक्षार्थ प्रकार की सूचना दी है। जीव सुखार्थ स्वरूप है यों अर्थ (आशय) हैं।

'तादृशं रूपमस्ति' शक्ति निरोधक रूप के कारण शेष को शय्या बनाई है, यों शयन की उत्तरावस्था कही है, इससे भी जीव से विलक्षणता बताई है।

जीव की कालकृत अवस्था, दूसरे का स्थान बनी हुई देह और नाड़ियों के सम्बन्ध के कारण इस प्रकार की बनी है और भगवान् की स्वेच्छा से काल को प्रेरणा करते हुए अपने स्थान भूत जल के सम्बन्ध से हुई है यों दोनों (जीव और ब्रह्म) की दो तरह से सुषुप्ति बताई है।

१—अपने स्वरूप का अनुभव। (प्रकाश)

आभास—एवं कियत्कालं स्थित इत्याह—

आभासार्थ - भगवान् इस तरह (जल में शयन करते हुए) कितने समय तक रहे, यों निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**चतुर्युगानां च सहस्त्रमप्सु स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।**
कालाख्ययाऽऽसादितलोकतन्त्रो लोकानपीतान् ददृशे स्वदेहे ॥१२॥

श्लोकार्थ—एक सहस्त्र चतुर्युगी काल पर्यन्त जल में शयन करते हुए कालात्मिक शक्ति ने जिनके पास लोक रचना के लिये साधन उपस्थित किये थे वैसे भगवान् ने, स्वयं प्रेरित अपनी शक्ति से 'लयप्राप्त लोगों' को अपनी देह में देखा ॥१२॥

सुबोधिनी- चतुर्युगानामिति । चतुर्युगानां स्वरूपमग्रे निरूपणीयम् । तेषां सस्रावृत्तौ ब्रह्मणो दिनं भवति, तावत्येव निशेति तावत्कालं शयनम् । **चकारात्सन्ध्यांशयोर्ग्रहणम्** अन्यथासङ्ख्यानिवृत्त्यर्थं च । कालशक्त्याः पर्वद्वयस्य विद्यमानत्वात् प्रथमपर्वाऽतिक्रम्य, यदैव सा द्वितीये पर्वणि रुमायाति, तदैवानन्दनिरोधानार्थं ज्ञानशक्तिमुद्भावयति । अतिक्रमणज्ञापनार्थं वा । अत एवाऽस्मिन् कल्पे जीवद्वारैव भोगः । **अतो भगवान्** स्वपन्नेव **स्वकीयया** प्रामाणिकया **स्वेनैवोदीरितया** स्वेच्छारूपया स्वशक्तया, न तु भिन्नतया स्थितकालेन । कदाचिद्भगवदिच्छया सोऽप्यन्तः प्रविश्य तथा कुर्यात्, ततश्च तस्याऽनियतत्वात् । कालातिक्रमो भवेत् । कालाधीनसृष्टिश्चेयं न भवेत्, शक्त्यन्तराणामप्युद्बोधप्रसङ्गात् । अतो भगवदिच्छानुसारेण स्वशक्त्यैव कालाख्यया आसादितमुपस्थापितं लोकानां तन्त्रं करणसाधनं यस्य । चित्यागमनमात्रेणैव विषयं करणसाधनं चोपस्थापितवतीत्यर्थः । तदा **अपीतान्** अमुक्तान् **लोकान्** जनान् **स्वदेहे ददृशे** । वासनया विषये संबद्धान्, स्वांशेन भगवति चिति प्रविष्टान्, स्वस्मिन् विद्यमानमंशं तत्र प्रवेशयितुं ददृशे । तदा सदंशमध्ये सर्वोऽपि चिदंशः पिण्डीभूतः ॥१२॥

व्याख्या—चतुर्युगों का स्वरूप आगे (इस स्कन्ध के ११ अध्याय के १८ वें श्लोक में) निरूपण के योग्य है अर्थात् कहा जायेगा वह चतुर्युगी जब एक सहस्त्रवार हो जावे तब ब्रह्मा का दिन होता है, वैसो ही रात्रि होती है, जब एक रात्रि होती है तब तक शयनलीला है, 'च' पद से दोनों सन्ध्याओं के अंश ग्रहण किये हैं और दूसरी जगह की संख्याओं का भी ग्रहण नहीं किया है अर्थात् ब्रह्मा के जब शत संवत्सरपूर्ण होते है तब शिव का एक दिन होता है एवं शिव के जब शत संवत्सर पूर्ण होते है तब विष्णु का एक निमिष होता है इस प्रकार की संख्या ग्रहण नहीं की है ।

काल शक्ति के दो पर्व (विभाग) होते हैं, जब वह काल शक्ति अपने प्रथम पर्व का अतिक्रमण कर दूसरे पर्व में आती है तब ही भगवान् आनन्द का तिरोधान करने के लिये ज्ञान शक्ति का आविर्भाव करते हैं जिससे यह भी बताते हैं कि काल शक्ति ने प्रथम पर्व का अतिक्रमण कर दूसरे पर्व में प्रवेश किया है इस कारण से ही इस कल्प में भगवान् जीव द्वारा (जीव रूप से) ही भोग करते हैं।

अतः भगवान् ने प्रोढ़े हुए ही अपनी प्रेरित प्रामाणिक इच्छा शक्ति से ही, लोक रचना के साधन प्राप्त किये, न कि पृथक् भूत काल शक्ति द्वारा प्राप्त किये, किसी समय वह काल भी भगवदिच्छा से भीतर प्रविष्ठ हो यों करे अर्थात् लोक रचना के साधन लाके देवे, किन्तु यों अनियमितता होने से काल का अतिक्रम हो जावे, अतः यह सृष्टि कालाधीन नहीं होवे। इस समय अन्य शक्तियाँ भी जग जाती हैं, इसलिए भगवदिच्छानुसार अपनी ही कालाख्या शक्ति ने लोक-रचना के साधन जिसको (भगवान् को) उपस्थित किये हैं। तात्पर्य यह है कि चित् में आते ही विषय और रचना के साधन नजदीक स्थापित कर दिये, तब भगवान् ने अपनी देह में आयुक्त जीवों को देखा। वासना के कारण विषयों में बद्ध थे अपने अंश से भगवच्चिदंश में प्रविष्ट हुए थे, अपने में विद्यमान अंश को उसमें प्रवेश करने के लिये ही उनपर दृष्टिपात किया, तब सदंश के मध्य में सकल चिदंश पिण्डीभूत हो गया ॥१२॥

आभास—तस्योद्गममाह—

आभासार्थ—उनकी उत्पत्ति का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तस्याऽर्थसूक्ष्मामिनिविष्टदृष्टेरन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यंस्तदाऽभिद्यत नाभदेशात् ॥१३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जब सूक्ष्म अर्थ में दृष्टि की तब सूक्ष्म अर्थ में भीतर जो अर्थ था उसने रजोगुण से सूक्ष्मरूप धारण किया अनन्तर काल प्राप्त गुण से प्रेरित हो प्रसव को प्राप्त होने से नाभिदेश द्वारा प्रकट हुआ ॥१३॥

सुबोधिनी—**तस्याऽर्थे**ति। तस्य भगवतोऽर्थे सूक्ष्मे जीवानामुपयोग्यरूपेऽभिनिविष्टदृष्टेः सतस्तस्याऽन्तर्गतोऽर्थश्चिज्जडात्मकोऽभूत्, तदा **तनीयान्** सूक्ष्मरूपो जातः अरूपस्य सूक्ष्मरूपं महान् विशेषः। तदपि रजोगुणेनैव, न तु भगवता; अन्यथा पुरुष इव भगवद्रूपता स्यात्। तदनन्तरं ततस्तेनैव रजसा **कालानुगतेन विद्धः** सन् **सूष्यम्** प्रसवं प्राप्नुवन् **तदा नाभिदेशात् अभिद्यत**। नाभिदेशं भित्वा न निर्गतः, किन्तु अतिसूक्ष्मत्वात्, आकाशशरीरत्वाच्च, तस्माद्देशात् सजीवपदार्थत्वात् प्रसवप्रकारेण निर्गत इत्यर्थः ॥१३॥

व्याख्या—उस भगवान् की जीवों के भोगने योग्य सूक्ष्म अर्थ दृष्टि पड़ते ही उसके भीतर रहा हुआ अर्थ चित एवं जड़ात्मक हुआ, तब वह सूक्ष्मरूप (अंकुर जैसी स्थिति वाला) हुआ बिनारूप वाले का (सत् अंशका) सूक्ष्मरूप (अङ्कुरवत् स्थितिवाला) बहुत विशेष है (शक्तिशाली) है वह रजोगुण द्वारा हुआ है न कि भगवद्द्वारा, यदि भगवद्द्वारा होता तो पुरुष की तरह इसको भी भगवद्रूपता हो जाती, इसके बाद काल प्राप्त उसी रजोगुण से प्रेरित हो प्रसवावस्था को प्राप्त होते हुए नाभि देश को फोड़कर नहीं किन्तु अति सूक्ष्म होने से तथा आकाश शरीर होने से उस देश (नाभि से) सजीव पदार्थ होने से प्रसव प्रकार से प्रकट हुआ, यों तात्पर्य है ।।१३।।

आभास—निर्गतस्य स्वरूपमाह—

आभासार्थ—निकले हुए के स्वरूप का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत्कालेन कर्मप्रतिबोधितेन ।**
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवाऽऽत्मयोनिः ।।१४।।

श्लोकार्थ—आत्मा (भगवान् से उत्पन्न कमल की कली) कर्म से प्रतिबुद्ध काल द्वारा वा काल के कारण, अपने तेज से उस विशाल जल को सूर्य की तरह प्रकाशित करती हुई सहसा बाहर निकली ।।१४।।

सुबोधिनी—**स पद्मकोश इति** । नारायणस्तु जलात्मक इति जलकार्येषूत्तमः पद्मकोश एव तत उदतिष्ठत् । **सहसेति** विकासमन्तरेणैव तदा तस्मिन् बहिः स्थितः कालः कर्म च प्राणिनां संबद्धम् । कोशोत्पत्त्या प्रबुद्ध कर्म बहिः स्थितं कालमन्तः प्रवेशितवदिति कालेनैव केवलेन अग्रिमकार्यं कृतवानित्याह—**कालेनेति** । **स्वरोचिषा** स्वस्य तेजोरूपेण[1] । कालस्य त्रिरूपत्वात् प्रकाशक रूपं तस्य गृहीतम् । **विशालमेव तत्सलिलं विद्योतयन्नेव** । जननप्रकाशनयोर्विलम्बाभावादर्क **इति** तथा सामर्थ्याय । **आत्मा** भगवानेव **योनिः** कारणं यस्य, स उदतिष्ठत्—इति संबन्धः ।।१४।।

व्याख्या—नारायण तो जलरूप है अतः उससे, जल से बने (उत्पन्न) पदार्थों में उत्तम पद्मकोश ही प्रकट हुआ । 'सहसा' पद से यह सूचित किया है कि वह कमल कली विकसित होने से पूर्व ही निकली तब बाहर स्थित काल और प्राणियों के कर्म उससे सम्बन्धित हुए, पद्मकोश को उत्पत्ति से जाग्रत कर्म ने बाहर स्थित काल को उसमें (पद्मकोश में) प्रवेश कराया, इससे यह बताया है कि आगे का कार्य केवल काल ने ही किया है । काल[1] के कारण ही अपने तेजोरूप

१—काल के तीन रूप हैं जिनमें से यहाँ प्रकाश रूप लिया है, काल के तीन रूप इसलिए हैं कि तेज जल और अन्न के उपादान कारण हैं ।

से उस विशाल जल को मानो प्रकाशित करना हुआ वह पद्मकोश बाहर निकला, जनन (उत्पत्ति) तथा प्रकाशित करने में विलम्ब न हुआ इसलिए 'अर्कइव' सूर्य की तरह कहकर उसका सामर्थ्य दिखाया है। पद्मकोश के उत्पत्ति का कारण भगवान् ही थे। यह समझाने के लिये 'आत्मयोनिः' विशेषण दिया है, वैसा पद्मकोश बाहर निकला (प्रकटा) ऐसा सम्बन्ध है ॥१४॥

आभास—सहसा निर्गतत्वात् तद्विकासार्थं स एव भगवांस्तत्र प्रविष्ट इत्याह—

आभासार्थ—अविकसित निकला था अतः उसको विकसित करने के लिए वही भगवान् उसमें प्रविष्ट हुए यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्राविवेशत्सर्वगुणावभासम् ।**
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥१५॥

श्लोकार्थ—सकल गुणों के प्रकाशक उस लोक रूप कमल में वही विष्णु प्रविष्ट हुए अर्थात् अभिव्यक्त (प्रकट) हो गये, उसमें वेदमय एवं विधाता जिसको लोक स्वयम्भू कहते हैं वह खुद ही ब्रह्मा हुए ॥१५॥

सुबोधिनी—**तल्लोकपद्ममिति** । कारणप्रवेशनव्यतिरेकेण पुरातनस्य निःसारस्य कार्योपयोगो न भविष्यतीति नारायणप्रवेशः। **उ इति** कोमलसंबोधने। पूर्वं नारायणोऽपि तत्र प्रवेशात् विष्णुर्जातः। विष्णुर्व्याप्तौविति वा। पूर्वमेव तत्र स्थितस्तत्राभिव्यक्तो जात इत्यर्थः। तत्र हेतु—सर्वगुणानामवभासो यत्र। भगवद्गुणानां सर्वेषामभिव्यञ्जककार्यरूपाभिव्यक्तिस्थानत्वात् भगवत्सहिता एव सर्वे गुणा भासन्तामित्येतदर्थं भगवत्प्रवेश इत्यर्थः। अयं पद्मकल्पे विशेषः। तत्र सर्वे जीवा एकीभूताः समष्ट्यात्मकाः सन्त एकरूपेण प्रादुर्भूता इत्याह—**तस्मिन्स्वयमिति**। **स्वयं** भगवान्, अत्र चितो भेदाभावात्। तत्रापि उभयक्रीडार्थं **वेदमयो विधाते**त्युक्तम्। वेदमयत्वात् आत्मरमणम्, विधातृत्वात् बहीरमणमिति। तस्योद्भवस्य नामाऽऽह—**स्वयम्भुवमिति**। तत्रत्या लोकास्तस्य पितरमदृष्ट्वा स्वयमेव ब्रह्मा जात इति स्वयम्भुवमाहुः, एवं लोकैः स्वयम्भूत्वेन निरुक्तोऽभूत ॥१५॥

व्याख्या—कारण के वहाँ (कमल में) अभिव्यक्त हुए बिना पुरातन और निःसार कमल, कार्य करने में स्वयं या स्वतः उपयोगी नहीं हो सकेगा। इसलिये उस में कारण रूप नारायण ने प्रवेश किया अर्थात् वहाँ पहले ही स्थित थे किन्तु कमल द्वारा कार्य हो तदर्थ आपने अपने को प्रकट किया, 'उ' पद कोमल सम्बोधनार्थ दिया गया है। पहले नारायण रूप से वहां स्थित होते हुए भी उसमें प्रविष्ट होने से विष्णु हो गये अथवा विष्णु पद से अपना व्यापत्व पदर्शित किया

है, यों करने का कारण प्रकट करते हैं कि वह कमल सकल भगवद्गुणों को प्रकट कर्तृरूप कार्य के प्राकट्य का स्थान होने से भगवान् के साथ समस्तगुण प्रकाशित हो जावे, इसलिये भगवत्प्रवेश हुआ यों तात्पर्य है। ब्रह्मकल्प में सर्वरूपत्व पहले सिद्ध ही था, उसके विकल्पों में सर्व रूपत्व वीर्यद्वारा था और इस (पद्म) कल्प में यहाँ जो प्रकार बताया है तदनुसार सर्व रूपत्व है यह ही पद्म कल्प में ब्रह्मकल्प से विशेषता है।

उस कमल में समस्त जीव समष्टि रूप होकर एक रूप से प्रकट हुए अर्थात् स्वयं भगवान् इस रूप से प्रकटे क्योंकि इस स्वरूप में चित् का भेद[1] नहीं वहाँ भी दोनों प्रकार की (स्वरूप में रमण और बाहर प्रपंच में रमण) क्रीडार्थ 'वेदमयो विधाता' कहा है। वेदमय होने से आत्मा (स्वरूप) में रमण कहा और विधाता होने से बाहर (प्रपञ्च में) रमण बताया है, उस प्रकट स्वरूप का नाम कहते हैं 'स्वयम्भुवं' वहाँ के लोग उसका जनन न देखकर यह कहने लगे कि 'ब्रह्मा स्वयं ही प्रकट हुवे हैं' इसलिये लोकों ने आपके नाम की निरुक्ति प्रसिद्धि 'स्वयम्भु' नाम से की है ॥१५॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥१६॥

श्लोकार्थ—खिली हुई उस कमल की कली में स्थित उस (स्वयम्भू) ने लोक को न देखा तब खुले हुए नेत्रों से आकाश में देखने के लिये चारों तरफ सिर को घुमाने लगे, जिससे ४ दिशानुसार उनके ४ मुख हो गये अतः ब्रह्मा चतुर्मुख कहलाये ॥१६॥

सुबोधिनी—**तस्यामिति**। पूर्वोक्तकमल एव, स्वयमपि पूर्वोक्त एव, भगवत्प्रवेशेन विकसिते कमले **कर्णिकायामेव स्थितः** स्वातिरिक्तं **लोकमपश्यमानः**। जनात्मकाः स्वस्मिन्नेव, लोकात्म-

---

१—चित् का भेद नहीं जिसका तात्पर्य है, वह स्वरूप आनन्द से पृथक् न होने से उसको कोई बाध नहीं अथवा इस कल्प में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के स्वरूप में चैतन्य भेद न होने से एक ही है।

कास्तु कमले; तदुभयविमर्शाभावाल्लोकादर्शनम्। ततोऽन्यथा दर्शनं कृतवानित्याह—**परिक्रमन्निति**। परित आक्रमन् शिरः प्रसारयन्। **व्योम्नीत्यु**परिभागे। पूर्वमेव पिण्डस्योत्पन्नत्वात् **विवृत्तनेत्रः** प्रसारितनयनो भूत्वा यमेव भागं न पश्यति, तत्रैव लोको भविष्यतीति बुध्द्या सर्वत्र मुखेच्छायां सर्वगुणावभासस्य प्रतिष्ठितत्वादनुदिशं **चत्वारि मुखानि लेभे**। तदा चतुर्मुखो ब्रह्मा जात इत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्या—भगवत्प्रवेश से विकसित (प्रफुल्लित) कमल से अर्थात् कली में कमल भी नहीं था जिसका वर्णन पहले हुआ ही है और स्वयं (भगवान्) भी वहीं थे जिनका वर्णन ऊपर आगे आ गया है। विराजमान स्वयं भगवान् ने देखा तो कोई लोक देखने में नहीं आया क्योंकि जनरूप लोक तो आप में (ब्रह्मा रूप भगवान् में) था और लोकात्मक (भूः भुवः स्वः आदि लोक) तो कमल कली में थे, इनका विचार न करने से लोक दर्शन न हुआ, पश्चात् दूसरी तरह देखने लगे शरीर तो पहले ही उत्पन्न हो गया था जिसमें नेत्रों को खुला रख सके थे, उन खुले हुए नेत्रों से जिस भाग को न देखा था कदाचित् वहां लोक होंगे, इस आशय से ऊपर के भाग आकाश में चारों तरफ शिर को फिराने लगे कि देखूं यहां तो लोक नहीं है चारों तरफ फिराने का हार्द यह था कि मुझे चारों तरफ मुख होने चाहिये, उसमें सर्व गुणों का प्रकाश तो था ही इसलिये चारों तरफ दिशानुसार ४ मुख प्राप्त किये, तब ब्रह्मा चतुर्मुख हुए—यों तात्पर्य है ॥१६॥

आभास—एवं मुखचतुष्टयेनाऽपि सर्वा एव दिशः पश्यन् यदा लोकान् न दृष्टवांस्तदा भयं चिन्ता च जातेत्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—चार मुख प्राप्त कर सब दिशाओं को देखने लगे तो भी जब लोक न देख सके तब हृदय में भय और चिन्ता उत्पन्न हुई। इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिये निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**तस्माद्युगान्त श्वसनावघूर्णजलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम्।**
अपाश्रितः कञ्जमु लोकतन्त्रं नाऽऽत्मानमद्धाऽविददादिदेवः ॥१७॥

श्लोकार्थ—युगान्त के वायु से अवघूर्णित (हिले हुए) जल से उत्पन्न तरंगों के चक्र वाले जल से ऊंचे उठे हुए कमल पर आधारवाले आदि देव ने लोकात्मक कमल तथा अपने को भी नहीं पहिचाना ॥१७॥

सुबोधिनी—**तस्मादिति**। युगान्ते यः **श्वसनो** वायुस्तेनाऽवघूर्णितं **यज्जलम्**, तत उत्पन्ना ये **ऊर्मयः**, तेषां **चक्रं** यस्मिन्; तादृशात्सलिलाद्विशेषेण रूढं **कमलमपाश्रित** इति भयकारणम्।

सलिलमत्र नित्यम्, जल कृत्रिमम्। वायुना च जलमेव दोलायितम्, अतस्तस्य चक्रं सलिले वर्तत इति न पौनरुक्त्यम्। **विरूढमिति** नित्यसलिलादुत्पन्नत्वान्न मज्जनम्, नापि नालभङ्गः। **अपाश्रित** इत्यस्थिरासनः, अत एव कमलविचारे आत्मविचारे वा बुद्धिर्न प्रसृता। लोकानां तन्त्र देहादिसर्वसामग्री यत्र, एतादृशं कमलमात्मा चः उभय **मप्यद्धा** साक्षा**दादिदेवोऽपि** भूत्वा पूर्वज्ञानादिसम्पन्नोऽपि **नाऽविदत्** न ज्ञातवान ॥१७॥

व्याख्या—युगान्त के वायु से अब घूर्णित (हिले हुए) जल से उत्पन्न तरङ्गों के चक्र वाले जल से ऊंचे उठे हुए कमल पर आधारित होना ही भय का कारण था। 'सलिल' शब्द से इसकी नित्यता बताई है। जल पद कृत्रिमतावाचक है अतः वायु से जल ही डोलायमान हुआ, इस कारण से उसका चक्र सलिल में है। इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। 'विरूढ़' पद का भावार्थ है कि नित्य सलिल से उत्पन्न होने से कमल डूबा नहीं और नाल का भी भंग न हुआ। 'अपाश्रितः' पद कहने का आशय है कि आसत स्थिर नहीं है, इसलिए ही कमल और आत्म विचार में ब्रह्मा की बुद्धि न पसरी, लोकतन्त्र वाला कमल, देहादि सर्व सामग्री वाले ब्रह्मा स्वयं हैं, आप साक्षात् आदि देव होते हुये तथा पूर्व ज्ञानादि से युक्त होते हुये भी न जान सके ॥१८॥

आभास—तदा पूर्ववासनया तत्र जिज्ञासोत्पन्नेत्याह—

आभासार्थ—तब पूर्ण वासना के कारण उस विषय के जानने की इच्छा हुई, यों निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ एतत्कुतो वाऽब्जमनन्यदप्सु।**
अस्ति ह्यधस्तादिह किंचनैतदधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—जो मैं यहां हूँ वह मैं कौन हूँ जिस कमल के पृष्ठ पर मैं हूँ वह एकाकी कमल इतने अगाध जल में कहां से आया ? यह बिना आधार के तो नहीं होगा ? अवश्य इसका कोई आधार होगा, वह आधार सत् ही होना चाहिये ॥१८॥

श्लोक—**स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनालनाडीभिरन्तर्जलमाविवेश।**
नाऽवाग्गतस्तत्खरनालनालनाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताऽजः ॥१९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार विचार कर, उस कमल के नाल के नाड़ियों के छेदों में प्रविष्ट होकर उनने जल में प्रवेश किया किन्तु वहां अधोभाग में भी इनको उसका

पता न लगा फिर कमल की नाल के आधारभूत नाभि में ढूंढने लगे, वहां भी उनको कुछ भी देखने में न आया ॥१६॥

सुबोधिनी—क एष इति। 'योऽहमेष कः ?' जिज्ञासायामात्मविचारे प्रवृत्त इति पूर्वे विचार-प्रारम्भे यो विचारकत्वेन प्रतिभातः, स एव विचारदशायां भिन्नतया प्रतीत इत्येष इत्युक्तम्। स्वस्य स्वरूपाज्ञानात् **क** इति प्रश्नः। यत्र चाब्जपृष्ठे अहमेतद्वा कुतो जातमिति। ननु जले कमलं भवत्येव, किमाश्चर्यमित्यत आह—**अनन्यदिति। अप्स्विति** बहुजलसंबन्धः, तादृशे च कमलं न भवति। किञ्च, अधस्तादेतन्निर्मूलं न भवति। अतो **यत्रैतदधिष्ठतमधिष्ठाय** स्थितं **तेन सता भाव्यम्**, असतोऽधिष्ठानाभावात्। **अतोऽस्य** कमलस्याधस्तात्किञ्चिदस्ति। **किंचनेति** किञ्चिदर्थे। **एतत्कमलमधिष्ठितं यत्र।** एव-मनुमानेन नैयायिकवदेतावज्ज्ञानं जातम्। ततस्तेन ज्ञानेन तर्कसहकृतेन पदार्थं विनिश्चित्य पुरुषोऽहम्, मम च जननाधारात्मकं कमलम्, न केवलमचेतनादुत्पत्तिमर्हतीति कश्चिन्मत्पिता वर्त्तते, अधस्तात्तमन्वेषयिष्यामि, इति निश्चित्य, सूक्ष्मं रूपं कृत्वा, तस्याब्जस्य नाडीरन्ध्रेषु प्रविष्टोऽन्तर्जलमाविवेश। तथाप्यधोभागं न प्राप्तवानित्याह-**नाऽवागिति**। तस्य **खरनालस्य** कमलस्य **यन्नालम्**, तेन तन्मूलभूतां **नाभिविचि-न्वन्नापि, तत् तदा अजोऽपि** ब्रह्माऽपि **सन्ना-विन्दत** अथवा, तन्नालमेवाविन्दत, यतोऽयमजः बहिर्मुखः ॥१८-१९॥

व्याख्या—जो यहां मैं हूँ: वह मैं कौन हूँ ? 'एष' पद का भावार्थ प्रगट करते हुए कहते हैं कि जिज्ञासा होने पर अपने को जानने के विचार में प्रवृत हुए, यो पहले विचार करने के प्रारम्भ में जो विचार करने वाला था, वह ही विचार करने के समय पृथक् प्रतीत होने लगा, इसलिये 'एष' पद दिया है। अपने स्वरूप के अज्ञान से 'कः' प्रश्न किया है कि यह कौन है ? जिस कमल की पीठ पर मैं बैठा हूँ यह कमल कहां से आया वा उत्पन्न हुआ ? जल में कमल तो होते ही हैं फिर प्रश्न क्यों ? आश्चर्य किस लिये ? इस पर कहते हैं कि 'अनन्य अप्स्विक्षति' इतने अनन्त जलों में अकेला एक कमल कैसे ? कमल स्वल्प (थोड़े) जल में होते हैं यहां जल अगाध और कमल एक, यह आश्चर्य कारक है अतः प्रश्न किया है, फिर विशेष विचार आने पर कहते हैं कि इस कमल की कोई जड़ तो होगी ही। इस कारण से जिस पर यह स्थित है वह सत् ही होना चाहिये क्योंकि असत् अधिष्ठान् नहीं हो सकता है इसलिये इस कमल के नीचे कुछ है 'किंचित्' पद किंचित् (कुछ) के अर्थ में है, 'एतत्कमलमधिष्ठतम् यत्र' इसी प्रकार अनुमान से नैयायिकों की तरह ज्ञान हुआ, अनन्तर उस तर्क सहित ज्ञान से पदार्थ का निश्चय कर मैं पुरुष हूँ, मेरे जन्म का आधार रूप कमल है और केवल अचेतन से भी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये मेरा कोई पिता है (होना चाहिये) उसको मैं इसके नीचे ढूंढूगा, यों निश्चय कर, सूक्ष्म रूप होके, उसके नाड़ी के छिद्रों में प्रविष्ट हो जल के भीतर प्रवेश कर गये तो भी अधोभाग में न जा सके, इसलिये कहा है "नाऽवागितः"।

उस कमल की नाल (नाड़ी) है उससे उसकी जो मूलभूत नाभि थी उसको भी ढूंढ़ने लगे, वहां भी उसको (पिता को) न पा सके, अज होते हुए भी केवल नाल को ही देख सके, जिसका कारण यह है 'अज' होते हुए भी माया के सम्बन्ध से अब तक बहिर्मुख थे ॥१८-१९॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह नीचे के श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे विदुर ! असीम अन्धकार में अपने उत्पन्न करने वाले को ढूंढते हुए उनको बहुत समय हो गया, जो काल (समय) देहधारियों को भय करने वाला एवं उनकी और अज की भी आयु का नाश करने वाला है ॥२०॥

सुबोधिनी—तमस्यपार इति । विदुरेति संबोधनं महतामप्यज्ञानमिति सूचयति । **अपारे तमसीत्यालोकाभावात् दूरादज्ञानम् । आत्मसर्गं** स्वपितरं **विचिन्वतो** महान् कालो जात इत्याह—**त्रिणेमिरिति** । चक्रत्वात्तस्य परावृत्तिः शीघ्रमेव भवति । शीतातपवर्षाकाला नेमयो यस्य सः । कियान् कालो जात इत्यकाङ्क्षायामाह—**यो देहभाजामिति** । शतसंवत्सरात्मकः स कालः, 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः । शतवर्षानन्तरं देहभाजामवश्यं भयं भवति, तस्य कालस्य मरणजनकत्वात् । तत्र हेतुमाह—**अजस्याप्यायुर्हेतिः** कालचक्रं यतः परिक्षिणोति; तस्याऽन्येषां देहभाजां भयजनने कः सन्देह इत्यर्थः ॥२०॥

व्याख्या—हे विदुर ! विदुर को इस समय इस प्रकार सम्बोधन करने का आशय यह है कि महत्पुरुषों को भी अज्ञान होता है, यों सूचित करना है 'अपारे तमसि' पद से यह जताया है कि गाढ़ अन्धकार के कारण प्रकाश न होने से एवं दूर होने से समझ न पाये इसलिये अपने पिता को ढूंढ़ते हुए बहुत समय बीत गया, यहां काल के लिये 'त्रिनेमिः' पद देने का आशय यह है कि कालचक्र की तरह शीघ्र फिरता (चलता) ही रहता है । उसके शीत ताप और वर्षा ये तीन चक्र हैं, ब्रह्मा को ढूंढ़ने में कितना समय हो गया ? इस पर कहते हैं कि, 'यो देहभाजा' इत्यादि वह काल सौ वर्ष का है क्योंकि श्रुति ने 'शतायुर्वै पुरुषः' पुरुष की आयु सौ वर्ष की कही है। सौ वर्ष के बाद देहधारियों को अवश्यकाल का भय होता है क्योंकि काल ही मारने वाला है, उसमें कारण कहते हैं, 'अजस्यापि आयुर्हेतिः' कालचक्र जब ब्रह्मा के आयु का भी नाशकर्ता है तब अन्य देहधारियों को भय पैदा करे इसमें कौनसा सन्देह है यों तात्पर्य है ॥२०॥

आभास—अतः स्वस्याऽपि वृथा मरणमाशङ्कय ततो निवृत्त इत्याह—

आभासार्थ—अपना भी निरर्थक मरण होगा इस आशङ्का से भयभीत हो वहां से लौट आये—यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**ततो निवृत्याऽप्रतिलब्धकामः स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।**
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥२१॥

श्लोकार्थ—जब कार्य सिद्धि न हुई तब अपने स्थान पर आके वह देव धीरे-धीरे श्वासों को रोककर चित्त को शान्त कर समाधिपर्यन्त योग सिद्धचर्थ आसन पर विराजमान हो गया ॥२१॥

सुबोधिनी—तत इति । **अप्रतिलब्धकाम** एव ततो निवृत्त्य पुनः **स्वधिष्ण्य**मास्थाय ज्ञानसहितो भूत्वा **देवो** जातः । ततः **शनैर्जितश्वासेन निवृत्तचित्तो** भूत्वा **न्यषीदत्**, स्थिरतया उपविष्टः । तत आरूढः समाधिपर्यन्तं योगो येन । योगेन चित्तैकाग्र्यं विधाय तमेवार्थमचिन्तयदित्यर्थः ॥२१॥

व्याख्या—कार्य की सिद्धि न होने से ही वहाँ से लौटकर अपने स्थान (आसन) पर आके ज्ञान प्राप्त कर देव हुआ, पश्चात् धीरे-धीरे श्वासों को रोकने से शान्त चित्त वाला बनकर उस पर (आसन पर) बैठ गया अनन्तर समाधिपर्यन्त योग का आचरण करने लगा। योग से चित्त को एकाग्र कर उसी ही अर्थ विषय) का चिन्तन करने लगा, यों आशय है ॥२१॥

आभास—एतादृशो योगेऽपि बहुकालं कृत इत्माह—

आभासार्थ—इस प्रकार का योग भी बहुत काल तक किया, यों निम्न श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**कालेन सोऽजः पुरुषायुषाऽभिप्रवृद्धयोगेन विरूढबोधः ।**
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातमपश्यताऽपश्यत यन्न पूर्वम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—पुरुष की आयु जितने काल पर्यन्त योग साधना से बढ़े हुए योग द्वारा ब्रह्मा दृढ़ ज्ञानी हो गये, जिससे उनने (ब्रह्मा ने) पहले कभी नहीं देखा ऐसे भगवान् के स्वरूप को बिना प्रयत्न के अपने हृदय में देखा ॥२२॥

सुबोधिनी—कालेनेति। पुरुषायुषाऽभिप्रवृद्धो योगो यस्मिन्, तेन कालेन विरूढ़बोधो जातः। विशेषेण रुढ़ः स्थिरो बोधो यस्य। तदा स्वयमेव भगवन्तमपश्यदित्याह-स्वयमिति पूर्वं प्रयत्नेनाऽपि दृष्टः, इदानीं चित्ते शुद्धे भगवान् स्वयमेव मायाजवनिकां दूरोकृत्य ब्रह्मणा हृदये भातः। पूर्वं मानसपरिकल्पितमूर्तिवै लक्षण्यमाह—**यन्न** पूर्वम्। कदाचिदपिनाऽपश्यत्। यद्यपि हृदये ब्रह्मकल्पे भगवान् दृष्टो वैकुण्ठस्थितः; प्रतिकल्पं च पश्यति, अन्यथा सृष्टिसामर्थ्यं न भवेत्; तथापि नैवंविधः कदापि दृष्टः। न हि स्वमनसिभाते भगवति तन्नाभिकमले स्वयं स्थातुमर्हति, न वा नालेऽधस्ताद्विद्यमानेऽच्छिन्ननालोऽन्तः प्रविशति, न वा कदाचित्स्वस्यान्दर्हृदये प्रसन्नो भूत्वा समागतः शेषे शेते। अतो 'यन्न पूर्वं कदाचिदपि दृष्टम्' इति यदुक्तं तद्युक्तमेव ॥२२॥

व्याख्या - पुरुष की आयु जितने समय तक योग साधना करने में बढ़े हुए योग द्वारा ब्रह्मा का ज्ञान विशेष प्रकार से दृढ़ हो गया अर्थात् वह पूर्ण ज्ञानी हो गया, तम नष्ट हो गया जिससे उनने बिना प्रयत्न के स्वयं ही भगवान् को देखा 'स्वयं' पद देने का तात्पर्य है कि पहले प्रयत्न करने पर भी न देखा किन्तु अब चित्त शुद्ध होने पर भगवान् ने माया जवनिका (पर्दे) हटाकर स्वयं ब्रह्मा के हृदय में प्रकाशित हुये, पहले जो मन में मूर्ति की कल्पना की जाती थी, उस मानस कल्पित मूर्त्ति से इस स्वरूप की विलक्षणता प्रकट करने के लिए कहते हैं कि 'यन्नपूर्वम्' अर्थात् ऐसा स्वरूप कभी भी ब्रह्मा ने नहीं देखा था, यद्यपि ब्रह्मकल्प हृदय में भगवान् के दर्शन किये थे, वह वैकुण्ठ स्थित भगवान् थे। प्रत्येक कल्प में भगवान् के ब्रह्मा को दर्शन होते हैं तब सृष्टि कर सकते हैं अन्यथा अर्थात् यदि भगवान् के दर्शन न होते तो सृष्टि नहीं कर सकते। प्रत्येक कल्प में भगवत दर्शन किये तो भी इस प्रकार के विलक्षण मनोहर स्वरूप के दर्शन नहीं किये थे, कारण कि, जब भगवान् अपने हृदय में प्रकाशित होते हों (दर्शन देते हों) तो उस भगवान् के नाभिकमल में स्वयं (ब्रह्मा) बैठ नहीं सकता, यदि वह भगवान् नाल में नीचे रहते तो, वह नाल के छेदन बिना प्रभु ब्रह्मा के भीतर प्रविष्ट न हो सकते, यदि भगवान् प्रसन्न होकर ब्रह्मा के हृदय में पधारें तो फिर शेष पर शयन न हो सके, अतः 'जो आगे कभी भी न देखा वह स्वरूप देखा, यों कहना युक्त[1] ही है। भगवान् के बहुत प्रकार के अन्य स्वरूप तो देखे थे किन्तु यह स्वरूप नहीं देखा था, यों तात्पर्य है ॥२२॥

आभास—अपूर्वं रूपं तदनुवर्णयति मृष्टयुपयोगित्वान्नवभिः—

१—भगवत्स्वरूप के दर्शन की अपूर्वता वर्णन करने से, उस समय जो ब्रह्मा को सन्देह था उसके मिटाने से या मिट जाने से भगवान् की जीव से विलक्षणता है, यह बताया है (समझाया है)—'प्रकाश'।

आभासार्थ—यह अपूर्व भगवत्स्वरूप सृष्टि के बनाने में उपयोगी है, उसका नव श्लोकों से वर्णन करते हैं, तथा कारिकाओं से आचार्य श्री ११ श्लोकों का तात्पर्य समझाते हैं।

कारिका—**अवस्थामुपमानं च स्वरूपं च त्रिभिः क्रमात्।**
शास्त्रप्रत्यक्षभेदेन फलसाधनमेव च ॥१॥

कारिकार्थ—तीन श्लोकों से क्रमपूर्वक पहले (२३) में अवस्था, दूसरे (२४) में उपमान और तीसरे (२५) में स्वरूप का वर्णन किया है।

शास्त्रानुसार भजन करने वालों का फल और साधन २६वें श्लोक में कहा है और प्रत्यक्ष भजन करने वालों का फल और साधन २७वें श्लोक में कहा है ॥१॥

कारिका—**सर्वतत्त्वाश्रयेणाऽपि सर्वसौन्दर्यमेव च।**
एवं षड्गुणमाहात्म्यमेकरूपेण वर्णितम् ॥२॥

कारिकार्थ—सकल तत्वों के आश्रय से भी सर्वप्रकार के सौंदर्य का वर्णन किया है, इसी तरह एक ही स्वरूप से षड् (६) गुणों का माहात्म्य कहा है ॥२॥

कारिका—**पुनर्गुणानां प्राधान्यादुपमारूपतत्त्वभिः।**
तस्य ब्रह्मत्वसंसिद्धयै तज्ज्ञाने सर्वबोधनम्।
ततो युक्तं यदेवात्र तदन्त्येन निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—सृष्टि में गुणों की प्रधानता है, जिससे फिर उपमा, रूप और तत्वों को निरूपण कर उसके ब्रह्मत्व की सिद्धि की है, उसका ब्रह्मत्व जान लेने से ब्रह्मा को श्रुत्यनुसार सर्वज्ञान हो गया, अनन्तर इस विषय में जो करना योग्य है वह इस अध्याय के अन्तिम (३३वें) श्लोक में निरूपित है ॥३॥

आभास—तत्र भगवन्तं प्रथममवस्थावत्त्वेन दृष्टमनुवर्णयति—

आभासार्थ—तदनुसार जिस स्वरूप का दर्शन किया उसकी अवस्था का निम्न २३ वें श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।**
फणातपत्रायुतमूर्धरत्नद्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥२३॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने देखा कि फेन (फन) रूप पृथक-पृथक हुए मस्तकों की मणियों के प्रकाश से युगान्त के जल का अन्धकार नाश हो गया है। जिससे वह जल

प्रकाशित हो रहा है, ऐसे जल से कमल नाल के समान श्वेत और लम्बी शेष रूप शय्या पर एक पुरुष पौढ़े हुए हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—**मृणालेति**। **मृणालवद्गौर आयतो** यः **शेषभोग** शेषस्य शरीरम्, तदेव **पर्यङ्कः**, तस्मिन्नेक एव **पुरुषः** शेते। महदेतदाश्चर्यं यत्सर्पशय्यायां शेत इति। किञ्च, **फणातपत्राणां यदयुतममेलनम्**, तत्सहितो यो **मूर्द्धा**, तत्र यानि **रत्नानि**, तेषां **द्युभिर्हतं ध्वान्तं** यत्र। एतादृशे **युगान्ततोये** प्रलयसमुद्रे शेषपर्यङ्के। तस्यैव शेषस्य ये फणास्त एव विकसिताः सन्त आतपत्रप्राया भवन्ति। ते च पुनः कमलपत्रवत् न पौर्वापर्येण मिलिताः। तत्र फणस्याऽधोभागे देवतात्वसिद्धये सर्वत्रैव मूर्द्धा वर्तते, फणास्तु शोभार्थाः। ते वा मूर्द्धानोऽयुताः। तत्र सर्वत्रैव मण्युत्तमाः सन्ति, तैरेव तत्रत्योऽन्धकारः सर्व एव गच्छति, अतः स्पष्टो भगवान् दृश्यते। ब्रह्मणो हि बुद्धिर्बहिः प्रकटा, न त्वन्तः। अतो भगवानपि बहिरेव प्रकटो बुद्धिनिरूपकत्वादध्यासस्य। भगवतोऽलौकिकप्रभावाज्ञानाद्भगवत्तेजसा नान्धकारनिवृत्तिः, किन्तु प्रमाणतो ज्ञानात् शेषशिरोमणिभिरेव ॥२३॥

व्याख्या—कमल के दण्ड (विस) समान श्वेत और बड़ी शेष की देह रूप शय्या पर एक ही पुरुष पौढ़े हुए हैं, यह पुरुष सर्प की शय्या पर शयन कर रहे हैं, यह महान् आश्चर्य है, किन्तु फनरूप पृथक-पृथक छज्जों में जिसने अपना एक ही मस्तक धरा है। उस मस्तक में लगे हुए रत्नों की द्युति (प्रकाश) से जिस प्रलय जल का अँधकार नष्ट हो गया, उसमें शेष शय्या पर पौढ़े हुए प्रभु के स्पष्ट दर्शन किये।

उस शेष के जो फन थे वे ही विकसित (खुले हुए) आतपत्र हो गये थे और फिर वे कमल-पत्रों की तरह परस्पर मिले हुए थे, वहाँ फन के अधो भाग में (नीचे के भाग में) देवतापन की सिद्धि के लिए सर्वत्र मस्तक हैं, फन तो शोभा के लिए हैं अथवा वे मस्तक अलग-अलग थे, उन सब मस्तकों पर रत्न जड़े हुए थे, उनसे ही प्रलय समुद्र का अन्धकार नाश हो गया था, जिससे भगवान् स्पष्ट दर्शन दे रहे थे।

ब्रह्मा की बुद्धि (ज्ञान) केवल बाहर प्रकट हुई थी, भीतर नहीं, इसलिए भगवान् भी बाहर ही प्रकट हुए क्योंकि यह अध्याय बुद्धि का निरूपण करने वाला है, ब्रह्मा को अब तक भगवान् के अलौकिक प्रभाव का ज्ञान नहीं हुआ था जिससे उसने समझा था कि यह अन्धकार की निवृत्ति भगवान् के तेज से नहीं हुई है किन्तु ब्रह्मा के योग द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ था वह आन्तर ज्ञान न होने से ब्रह्मा ने समझा कि अन्धकार की निवृत्ति शेष के मस्तक की मणियों से ही हुई है ॥२३॥

आभास—तस्य बुद्धौ लोकवत् प्रतिभातमिति लौकिकोपमा भगवति वर्ण्यते—

आभासार्थ—ब्रह्मा की बुद्धि में भगवान् लोक जैसे भासने लगे अतः भगवान् की उपमा भी लौकिक रूप से निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः संध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः।**
रत्नोदधरौषधिसौमनस्यवनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥२४॥

श्लोकार्थ—सन्ध्या के बादलों के समान पीले व लाल वस्त्र (पीताम्बर) धारी मस्तक पर सुवर्ण के मुकुटों वाले अनेक प्रकार के रत्न, जल की धाराऐं, औषधियाँ, पुष्प समूह एवं वनमाला धारी, बाँसरूप भुजाऐं, वृक्षरूप चरण वाले, मरकत मणियों के पर्वत की दृष्टि को भी तिरस्कृत करने वाले ऐसे भगवान् ब्रह्मा की वृद्धि में आये ॥२४॥

सुबोधिनी—**प्रेक्षामिति**। 'कीदृशं ददर्श' इति सर्वत्राऽऽकाङ्क्षा। **हरितोपलाद्रेः प्रेक्षां क्षिपन्तम्**। हरिन्मणिपर्वतः कश्चित् क्षीरसमुद्रे वर्तते, तथा शेषपर्यङ्के भगवान्। अत एव शेषस्य मृणाल-तुल्यता; शैत्यचिक्कणकान्तीनां शुक्लरूपाश्रितानां तत्रैव सत्त्वात्। प्रेक्षा दृष्टिः। तुल्यो हि तुल्य-विषयिकां दृष्टिं दूरीकरोति, न तु भगवत्त्वेन। तत्र वक्तव्यं सर्वप्रेक्षामेव क्षिपतीति। हरितो-पलानामद्रिः। ननु युक्तमेव तत्प्रेक्षाक्षेपणम्; अन-लङ्कृतः सः, भगवान् अलङ्कृत इति। तत्राऽऽह—**संध्याभ्रनीवेरिति**। सन्ध्याकालीनान्यभ्राणि मेघाः पतिरक्तास्ते नीवी कटिवस्त्रं पीताम्बरं यस्य। उरूणि रुक्माणि सुवर्णानि मुकुटरूपाणि मूर्द्धसु यस्य। किञ्च; **रत्नानि** पद्मरागादीनि, **उदधारा** जलप्रवाहाः, **ओषध्यो** वनस्थाः रात्रौ तेजस्वत्यः, सौमनस्यं सुमनसां समूहः, वनानि च; तेषां माला यस्य। पञ्चवर्णा हि भगवन्माला, यथेन्द्रधनुषो मध्ये वर्णा भवन्ति। रत्नानामेका माला आरक्ता रत्नमालेव, उदधाराणां माला मुक्ताहार इव; ओषधीनां माला अलौकिकदिव्य-रत्नकान्तिमालेव, दीपसदृशमणिमालेव वा; पुष्पमाला पुष्पमालेव; वनमाला तुलसीमालेव। किञ्च, वेणव एव भुजाः, अङ्घ्रिपा एव अङ्-घ्रयो यस्य; वेणुभुजश्चासावङ्घ्रिपाङ्घ्रिश्च ॥२४॥

व्याख्या—किस प्रकार के भगवान् के दर्शन किये? ऐसी आकांक्षा (जानने की इच्छा) है जिसका वर्णन श्लोकों में है, ब्रह्मा के ध्यान में आया कि भगवान् मरकत मणियों के पर्वत की दृष्टि का तिरस्कार (लज्जित) कर रहे हैं, क्षीर समुद्र में पौढ़े हुए भगवान् को यों समझा कि मानो मरकत मणियों का पर्वत समुद्र में पड़ा है, इस कारण से ही शेष को कमल की दाण्डी की उपमा दी है। क्योंकि श्वेत स्वरूप में शीलता, विकास और कान्ति जैसे रहती है वैसे कमल के दांडों में रहती है, 'प्रेक्षा' पद का अर्थ यहाँ दृष्टि है समान ही, समान विषय के सम्बन्ध वाली दृष्टि को दूर करता है यों कह कर बताया है कि भगवान् ने भगवत्पन से इस दृष्टि को दूर नहीं किया है।

वहाँ यों कहना चाहिए कि भगवान् सर्व की दृष्टि की उपेक्षा करते हैं। किन्तु ब्रह्मा की बुद्धि में यों हो आया कि भगवान् मरकत मणियों की दृष्टि की उपेक्षा करते हैं, यह इसके लिये समझना उचित ही है कारण कि वह अलङ्काररहित था और भगवान् अलङ्कारों से युक्त थे। भगवान् अलंकृत थे, इसको समझाने के लिए कहते हैं कि 'सन्ध्याभ्रनीवेः' सन्ध्या समय के बादलों के समान पीले और लाल वस्त्र (पीताम्बर) जिनकी कटि में बन्धा हुआ है और सुवर्ण के मुकुट जिनके मस्तक पर धारण किये हुए हैं और पद्मरागादि रत्न, जल प्रवाह, वनस्थ औषधियाँ जो रात्रि में चमकती हैं, पुष्पसमूह और मालाएँ धारण की हैं, पाँच वर्ण वाली भगवान् की मालाएँ हैं, जैसे इन्द्रधनुष में विभिन्न रंग होते हैं वैसे रत्नों की माला आरक्त थी, जल प्रवाह कहने का भावार्थ है। मोतियों की माला जैसी माला (श्वेतवर्ण) औषधियों की माला अलौकिक दिव्य रत्न कान्ति वाली माला के समान माला अथवा दीप के समान मणिमाला, पुष्पमाला और तुलसीमाला, इस प्रकार पाँच मालाएँ भगवान् ने पहनी हैं, यों ब्रह्मा ने देखा है। वेणु (बाँस) ही भुजाएँ थीं, वृक्ष ही चरण थे, वैसा ही बाँस रूप व भुजाओं वाला तथा वृक्ष रूप चरणों वाला वह पर्वत भी है ॥२४॥

आभास—स्वरूपमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक से स्वरूप का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**आयामतो विस्तरतः स्वमानदेहेन लोकत्रयसंग्रहेण।**
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां कृतश्रियाऽपाश्रितवेषदेहम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—तीन लोक जिस में आ जावे ऐसे लम्बे और विशाल शरीर वाले, विचित्र दिव्य आभूषण और वस्त्रों की श्री (शोभा) ने जिस देह का आश्रय लिया है, ऐसे प्रभु के ब्रह्मा ने दर्शन किये ॥२५॥

सुबोधिनी—**आयामत इति। आयामो** दैर्घ्यम्। **विस्तारो** विशालता। **लोकत्रयाणां संग्रहो यत्र,** एतादृशं स्वस्य शरीरस्य मानम्। यावता विस्तारेण दैर्घ्येण च परिकल्पमाने लोकत्रयं तत्र तिष्ठति, तादृशेन देहेन उपलक्षितं भगवन्तमित्यर्थः। किञ्च, **विचित्राणि** दिव्यानि **आभरणान्यंशुकानि** च यस्य। तेषां संबन्धिन्या तैरेव कृतया श्रिया **अपाश्रितः**—सर्वत्र तेजःपुञ्जवत्परिवर्तमानो—**वेष** आकृतिविशेषो यस्य। तादृशो **देहो** यस्येति। भगवतो रुपं सच्चिदानन्दरुपमिति ज्ञापकं त्रैलोक्याश्रयत्वम्। आभरणादिभिः क्रियमाणा शोभा भगवद्वेषमेवाश्रयते, न त्वाभरणैर्भगवद्वेषे, शोभा भवति। आभरणानामाभरणत्वं च भगवद्धर्म ॥२५॥

व्याख्या—'आयाम' अर्थात् लम्बाई, 'विस्तार' विशालता, जिसमें तीन ही लोक रह सकें

ऐसा प्रभु के शरीर का मान (माप) था। जिसकी दीर्घता एवं विस्तार में तीन ही लोक आजावें ऐसी देह उपलक्षित भगवान् के दर्शन किये, फिर विशेष में विचित्र दिव्य आभूषण तथा वस्त्रों की शोभा ने जिस देह का आश्रय किया है जिससे सर्वत्र तेज के पुंज के समान परिवर्तित वेष तथा आकृति विशेष वाली देह वाले प्रभु के दर्शन किये।

इसको विशेष स्पष्ट कर समझाते हैं कि भगवान् का स्वरूप लौकिक नहीं है किन्तु सच्चिदानन्द रूप है जिसके समर्थन में कहा है कि उस शरीर में तीन लोक समा जाते हैं। लौकिक शरीर होता तो तीन लोक समा नहीं सकते, आभूषणों से जो शोभा हो रही थी वह भगवान् के वेष के ही आश्रय से होती थी न कि आभरणों से भगवान् के वेष में शोभा होती थी, आभरणों का आभरणत्व भगवद्धर्म है ॥२५॥

आभास—परोक्षतया मार्गानुसारेण भजतां फलदानं स्वोपयोगाभावात्ब्रह्मधर्म एवेति तमाह—

आभासार्थ—भपवत्स्वरूप का दर्शन न करते अर्थात् परोक्ष में जो पुरुष भक्तिभार्गानुसार भजन करते हैं उनको जो फलदान होता है वह भगवदुपयोगी न होने से ब्रह्म धर्म ही है, यों श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गैरभ्यर्चतां कामदुघांङ्घ्रिपद्मम्।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिये पृथक-पृथक मार्गों से पूजा करने वाले पुरुषों को, कृपा से नखरूपचन्द्र की किरणों से पृथक देखने में आने वाली, अङ्गुलीरूप सुन्दर पत्रधारी और कामनाओं का दान करने वाले चरण कमल दिखाते हुए भगवान् ने दर्शन दिए ॥२६॥

सुबोधिनी——**पुंसामिति**। **स्वकामाय** स्वाभिलाषसिद्धयर्थम्। **विविक्तमार्गैरन्योन्यश्लेषरहितैः**, लोकातीतैर्वा, एकान्तप्रकारैर्वा, ये **अभ्यर्चन्ति**, तेषां **कामदुघयदङ्घ्रिपद्मम्**, तत् तेषामर्थे **प्रदर्शयन्तम्**। पुनः कथम्भूतमङ्घ्रिपद्ममित्याकांक्षायामाह——**नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रमिति**। नखान्येवेन्दवस्तेषां मयूखैर्भिन्नाः सर्वदेहविलक्षणा या अङ्गुलयस्ता एव चारूणि पत्राणि यस्य। स्वभावतः पादपद्मं विकसितम्। नखानामिन्दुत्वेन पत्राणि प्रत्येकं सङ्कुचितानि परित इन्दुरक्षार्थम्, न त्वग्रतः। कमलपत्राणि चन्द्रकिरणैः सङ्कुचितानि भवन्ति, तिर्यक् संकुचितानि च। तेनालौकिकत्वाद्धृदयान्धकारमलौकिकमपि नाशयति। चरणस्य पद्मतायां

हेतुरप्युक्तो भवति । सर्वदेहवैलक्षण्याद्भक्तिमार्गः सर्वेभ्य उत्तम इत्युक्तं भवति । भक्तिरेव स्वतन्त्रफलेति स्वयं फलमदत्त्वा तेषां कामनापूर्तये दुःखाभावाय च तदुपास्यं चरणमेव प्रदर्शयति ॥२६॥

व्याख्या—अपनी अभिलषित अर्थ की सिद्धि के लिए, एक-दूसरे से जुड़े मार्गों से अथवा पारलौकिक तरीकों से अथवा एक ही अनन्याश्रय मार्गानुसार पूजन करने वाले पुरुषों की कामनाओं को देने वाले चरणकमल को उनके लिए ही दिखाये (दर्शन दिये) वह चरणकमल कैसा है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि, जिस चरणकमल के नख ही चन्द्र हैं उनकी किरणों से सकल देहों से विलक्षण और सुन्दर पत्र रूप अंगुलियाँ जिसका हैं वैसा चरणकमल है, पाद को पद्म कहने से यह सूचित किया है कि यों तो सदैव प्रफुल्लित रहता है किन्तु जैसे कमलपत्र चन्द्रमा की किरणों से संकुचित हो जाता है और वह संकुचितता भी तिर्यक् होती है वैसे ही यहाँ भी नखरूप चन्द्र की किरणों से चन्द्र की रक्षा करने के लिए प्रत्येक पत्र संकुचित हो गये थे केवल अग्रभाग से सकुचित नहीं हुआ था।

यहाँ चन्द्र भगवत्स्वरूप होने से अलौकिक है। अतः अलौकिक हृदयान्धकार को भी नाश करने में समर्थ होने से उसको नाश करता है। इससे चरण की पद्मता का कारण भी बताया है, चरण की अंगुलियाँ सकल देहों से विलक्षण हैं यों कहने का भावार्थ प्रकट करते हैं कि भक्तिमार्ग समस्त मार्गों से उत्तम है, भक्ति ही स्वतन्त्र फल रूप है अतः भगवान् स्वयं (खुद) फल न देकर पूजा करने वालों की कामना पूर्ण करने के लिए और उनको कष्ट न हो तदर्थ उनको उपासना करने योग्य चरण ही दिखाते हैं ॥२६॥

आभास—एवं मार्गेण भजतां फलमुक्त्वा प्रत्यक्षेण भजतां फलमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार परोक्षता में मार्गानुसार भजन करने वालों का फल कहकर अब इस निम्न श्लोक में प्रत्यक्ष में भजन करने वालों का फल कहते हैं—

श्लोक—**मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत्कण्डलमण्डितेन ।**
शोणायितेनाऽधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्रुवा ॥२७॥

श्लोकार्थ—लोकों की आर्त्ति (अन्तःतापादि दुःखों) को हरण करने वाली मुस्कान वाले, चारों तरफ प्रकाश करने वाले कुण्डलों से शोभित अधर बिम्ब कान्ति से कश्चित् लालसा वाले सुन्दर नासिका वाले एवं सुन्दर भ्रूवों वाले मुख से भक्त की पूजा करते हुए भगवान् के दर्शन किये ॥२७॥

सुबोधिनी—मुखेनेति। मुखेन प्रत्यर्हयन्तम्, ये पूजां कुर्वन्ति तान् प्रतिपूजयन्तम्, **ये यथा मां प्रपद्यन्ते** इति वाक्यात्। ननु ते स्वकीयेन सर्वस्वेनापि भगवन्तं पूजयन्ति भगवांस्तु कथं तान् पूजयतीत्याशङ्क्य, भगवति सट् गुणाः सन्ति तैर्युक्तेन मुखेन तान् पूजयति तेषु मुखधर्मान् सर्वानेव योजयति। तत्रमुखे षड् धर्मान् षड्भिर्विशेषणैः संपादयति **लोकार्तिहरस्मितेनेत्यादिभिः**। भगवतोमुखस्य गुणद्वयं सर्वोपकारि, चतुष्टयं भक्तानामेव। लोकानामार्ति हरतीति तादृश स्मितं यत्र। **स्मितं मन्दहासः, हासो जनोन्मादकरी च माया**। भगवान् सृष्टिलीलाकर्ता ब्रह्माण्डस्थितजीवान् स्वेच्छया सर्वथा विनियोक्ष्यति। तत्र ते प्रमाणबलमाश्रित्याऽन्यथाकर्तुं यतन्ते, तदा व्यामोहयति, वृथा क्लेशं प्राप्स्यन्तीति। अतस्तेषां क्लेशाभावायैव हासः, मन्दत्वं च सर्वथा व्यामुग्धा उत्पथप्रवृत्ताः पारलौकिकदुःखं प्राप्स्यन्तीति। **लोकशब्देन** सज्जीवाः। किञ्च, **परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेनेति**। परितः स्फुरन्ती ये कुण्डले, ताभ्यां मण्डितेन। साङ्ख्ययोगौ कुण्डले, तयोः परितः स्फुरणमैहिकामुष्मिककार्यसिद्धये। तेन वैदिकमार्गेणाऽपि यः क्लेशः, स योगेन निवार्यते; साङ्ख्येन स्वरूपानन्दमनुभाव्यते। एतद्वा विपरीतम्, उभयमुभयत्र वा। अतोऽनिष्टनिवारकेष्टप्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपूजनं करोतीत्युक्तम्। इदं भक्तानां नाऽतीवपुरुषार्थरूपम्। **शोणायितेनेति**। शोण ईषद्रोरः पीताम्बरतुल्यः। अनेन तेभ्यो भक्तिं प्रयच्छतीत्युक्तम्। किञ्च, **अधरबिम्बभासा**। अधरबिम्बस्य भाः कान्तिर्यत्र। अधरो लोभात्मकः, तत्र यद्बिम्बं बिम्बसदृशमित्यर्थवशात्शब्दबलेन भगवत्स्वरूपम्, तल्लोभे स्थापितं भगवद्भक्तेभ्यः प्रयच्छतीति प्रतिपूजनसाधने तत्कान्तिस्तत्साक्षात्कारः समायाति। एवं भक्तिं दत्त्वा सर्वदुर्लभं तेभ्यः स्वरूपं प्रदर्शयतीत्युक्तम्। किञ्च, **सुनसेन सुभ्रुवेति**। शोभेन नासिके यस्मिन्, शोभने भ्रुवौ यस्मिन् इति। अश्विनीकुमारौ नासिके, भ्रूः कालः; रोगकालयोर्निवृत्तिं करोतीत्यर्थः। एवं प्रत्यक्षभजने सर्वपुरुषार्थदाता निरूपितः ॥२७॥

व्याख्या—भगवान् ने गीता में कहा है 'ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' अर्थात् जो भक्त मुझे जिस तरह भजते हैं मैं भी उनका वैसे ही भजन करता हूँ, भगवान् पूजा करने वालों की कैसे पूजा करते हैं? सेवा करने वाले तो अपना सर्वस्व अर्पण कर सेवा करते हैं, इस पर कहते हैं कि 'मुखेन प्रत्ययिन्त' भगवान् अपने मुखारविन्द से पूजन कर रहे हैं। प्रभु के इस प्रकार के दर्शन किये।

भगवान् में जो छः गुण हैं उनसे युक्त मुख द्वारा भक्तों को पूजते हैं। मुख से पूजा करते हुए मुखास्थित अपने सर्व ही धर्मों को उन सेवकों में पधारते हैं, जिससे अन्त में सर्व दुर्लभ अपने (स्वयं) को प्रकट कर दर्शन देते हैं।

मुख में वे ६ भगवद्धर्म हैं इनकी सिद्धि लोकार्तिहर आदि विशेषणों से कहते हैं भगवान् इन ६ गुणों में से दो गुणों द्वारा सर्वसाधारण पर उपकार करते हैं और चार गुणों से भक्तों पर

उपकार करते हैं।

जिस मुख में लोगों की आर्त्ति हरने वाला मन्दहास है, यह हास, जनों को उत्साह करने वाली भगवान् की माया है। यह माया भगवान् ने मुख में इसलिए रखी है कि मैं सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्माण्ड स्थित जीवों को अपनी इच्छा से सर्वथा कार्य में लगाना चाहता हूँ किन्तु वे जीव प्रमाण बल का आश्रय लेकर अन्यथा (मेरी इच्छा के विपरीत) करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे वृथा क्लेश पायेंगे (पाते हैं) अतः उनको क्लेश न हो तदर्थ हो यह हास मुख में रखा है जिस हास से मोहित होके मुझ में अनुरक्त हो उत्पथ (विपरीत मार्ग) में प्रवृत्त होने से बच जावें अन्यथा यदि प्रमाण बल से उत्पथ में फँस कर मन्दत्व (मूर्खता) को प्राप्त कर लेंगे तो पारलौकिक दुःख भोगेंगे। श्लोक में जो लोक शब्द दिया है उसका आशय है सत् जीव (दैवी जीव)।

चारों तरफ प्रकाशमान कुण्डलों से मुख सुशोभित हो रहा था। (१-२) ये दो कुण्डल, साङ्ख्य और योग के रूप थे जिनका चारों तरफ स्फुरण ऐहिक (इस लोक) और आयुष्मिक (पारलौकिक) कार्य सिद्धि के लिए है। उससे वेदिक मार्ग से भी जो क्लेश होता है वह (दुःख) योग से (योगरूप कुण्डल) दूर किया जाता है और साङ्ख्यरूप कुण्डल द्वारा स्वरूपानन्द का अनुभव प्राप्त होता है अथवा यह विपरीत है अर्थात् वेदिक मार्ग से प्राप्त क्लेश योग एवं सांख्य दोनों से दूर होता है एवं स्वरूपानन्द का अनुभव भी दोनों (योग व सांख्य) से मिलता है।

अतः प्रभु अनिष्ट का निवारण एवं इष्ट का प्रतिपादन करते हुए सेवकों का प्रतिपूजन करते हैं, यह प्रतिपूजन भक्तों के लिए विशेष पुरुषार्थ नहीं है।

(३) 'शोणायितेन' भगवन्मुख, किञ्चित गौर अर्थात् पीताम्बर तुल्य है जिससे भक्तों को भक्ति का दान करते हैं, किन्तु और विशेष कहते हैं कि (४) 'अधर विम्बभासा' लोभात्मक अधर का जो बिम्ब (विम्ब सदृश – भगवत्स्वरूप) उसकी कान्ति जिस मुख में रही है, उस मुख के अधर द्वारा वह भगवद्भक्तों को देते हैं, यों प्रतिपूजन करते हुए, स्वरूप की कान्ति तथा उसका साक्षात्कार भक्त को मिल जाता है, इसी प्रकार भक्ति दान के बाद उनको अपना स्वरूप जो सर्व दुर्लभ है उनका दर्शन कराते हैं।

(५-६) 'सुनसेन सुभ्रुवा' जिस मुख में सुन्दर नासिका तथा सुन्दर भ्रुवें (भौंहें) हैं। नासिकाएँ अश्विनी कुमार के रूप हैं 'भ्रू' कालरूप हैं, अश्विनी कुमार रोग की निवृत्ति करते हैं और काल-काल की निवृत्ति करता है अर्थात् भगवान् इनके द्वारा ही रोग और काल की निवृत्ति करते हैं। इस तरह प्रत्यक्ष भजन में भगवान् सर्व पुरुषार्थ होते हैं यों निरूपण किया ॥२७॥

आभास—सर्वतत्त्वाश्रयेणाऽपि भगवतः सर्वसौन्दर्यं निरूपयति—

आभासार्थ—समस्त तत्वों का आश्रय होते हुए भी भगवान् में सर्व से विशेष स्वतः सौन्दर्य

है जिसका निम्न श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—**कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।**
हारेण चाऽनन्तधनेन वत्सश्रीवत्सवक्षस्थलवल्लभेन ।।२८।।

श्लोकार्थ—कदम्ब वृक्ष की केसर सम वस्त्र (पीताम्बर) से, नितम्ब पर मेखला से, वक्ष-स्थल पर श्री वत्स के प्रिय चिह्न से और कीमती हार से सुन्दर रीति से अलंकृत भगवान् के दर्शन किये ।।२८।।

सुबोधिनी—**कदम्बेति** । कदम्बस्य यथा किञ्जल्काः, तथा ते रेखाकारा मुक्तायुक्ताश्च पीताम्बरे प्रतीयन्ते । तेन सर्वतत्त्वैर्मुक्तैः सहितया भक्त्या भगवानाच्छन्न इति भगवति गोप्यं रूपमुक्तम् । तेनैव तत्र शोभा, न तु रूपेण । अत एव पीताम्बरेण सुष्ठ्वलङ्कृतम् । तच्च छन्दोमयम्, तेनाच्छादनं स्पष्टमेव । किञ्च **मेखलया नितम्बे स्वलङ्कृतमिति** । मेखला भूमौ भगवत्कीर्तिर्भगवद्गुणानुवर्णनम्, गुणमयी च सा । तया भगवत्कार्यकरणात् कार्यार्थमपि भगवान्नाऽन्वेष्टव्यः । एव क्वचिद्भगवद्रुपमप्रत्यक्षमपि सर्वसौन्दयमित्युक्त्वा प्रकट ततोऽपीत्याह—**हारेणेति** । हारः सर्वरत्नानाम् । अत एवाऽनन्तधनेन । वत्सरूपश्चिह्नरूपो योऽयं **श्रीवत्सो** दक्षिणावत्तरोमरेखा, तद्युक्तं **यद्वक्षः**, तदेव **स्थलं** सर्वसौन्दर्याणामाश्रयभूतम्; सर्वेषां भूतानां वा; आश्रयभूतं वा । तत्र **वल्लभेन** तेन च स्वङ्कृतम् । नवभिर्गुणैरेकदेशस्थितैर्हाराणां वा समूहेन, मुक्तजीववृन्देन भृग्वादिसमूहेन । **अनन्त** एव धनं यस्य । अधिकारानन्तरमेव तेषां स्वरूपप्राप्तिः । **अनन्तः** कालः । श्रीवत्सस्य चिह्नत्वं लक्षणतया ज्ञापकम्, तेन ब्रह्मता निरूपिता । श्रीवत्सस्य यद्यपि चिह्नत्वं स्वभाव एवा । तथापि प्रियत्वाय तथोक्तिः । नाम्नि तु श्रियाः प्रियत्वं प्रतीयते । ततोऽपि हारस्य प्रियत्वं ख्यापयितुम्—**वल्लभेति** । एवमुभयविधरपि तत्त्वैर्भगवत्सौन्दर्यं निरूपितम् ।।२८।।

व्याख्या—जैसे कदम्ब में केसर है वैसे ही पीताम्बर में रेखा के आकार एवं मोती प्रतीत होते हैं, उस पीताम्बर से अर्थात् सर्व तत्व भक्ति वाले मुक्त जीवों से भगवान् आच्छन्न (घिरे हुए) थे। यों भगवान् का गोप्य रूप कहा, उससे ही वहाँ शोभा थी, न कि रूप से, अतएव कहा है कि पीताम्बर से सुन्दर रीति से अलंकृत थे, यों कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् की शोभा भक्तियुक्त मुक्त जीवों से सम्पन्न होने से ही है, और वह पीताम्बर वेद रूप है, उससे (वेद रूप से) भगवान् का आच्छादन तो स्पष्ट ही है किन्तु मेखला से नितम्ब प्रदेश सुष्ठ (सुन्दर) अलंकृत है, वह मेखला (कंदोरा या करणगती) गुणमयी है, जिससे पृथ्वी पर भगवान् की कीर्ति एवं गुणों का वर्णन प्रकट होता है, वह (मेखला) स्वयं भगवान् का कार्य कर रही है, इसलिए कार्यार्थ भी भगवान् के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

यदि क्वचित् प्रदेश में भगवद्रूप के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हों तो भी वह सौंदर्यनिधि है किन्तु उससे भी प्रकटस्वरूप विशेष सुन्दरता वाला है जिसका उत्तरार्ध (हारेण·····) से कहते (समझाते) हैं। सर्व प्रकार के रत्नों से बना हुआ हार बहुत ही मूल्य वाला है, चिन्हरूप जो यह श्रीवत्स (दाहिनी तरफ ढलती रोमों की रेखा) उससे युक्त भगवान् का वक्षस्थल ही सकल सुन्दरता का आश्रय स्थान है अथवा सर्वभूतों का आश्रय रूप है, उस वक्षस्थल पर धारण किये हुए प्रिय हार से (सुन्दर रीति से) अलंकृत है ऐसे भगवान् के दर्शन किये। एक देश में नव गुणों से (हार के न त्रों से) अथवा हारों के समूह से अर्थात् भृगु आदि मुक्त जीवों के समूह से अलंकृत प्रभु के द . किये, अनन्त प्रभु ही, मुक्त जीवों का धन है, उन मुक्त पुरुषों को अधिकार प्राप्ति के अनन्तर ही वरूप की प्राप्ति होती है अतः सकल सौंदर्य निधि भगवत्स्वरूप के साक्षात् प्रकट दर्शन होते हैं।

अनन्त का अर्थ यहाँ काल है, श्रीवत्स को जो चिन्ह कहा है वह केवल लक्षणता का ज्ञापक है। वास्तव में इससे उसकी ब्रह्मता निरूपण की है, हालांकि श्रीवत्स को भगवान् का चिन्हपन स्वभाव से ही है, तो भी वह प्रिय है इसलिए ऐसा कहा है, कारण कि इस श्रीवत्स में भृगु आदि मुक्त जीव रहते हैं। नाम में श्री का प्रियत्व प्रतीत होता है, उससे भी हार का प्रियत्व प्रसिद्ध करने के लिए वल्लभ' पद दिया है अर्थात् हार को वल्लभ कहा है। इस प्रकार दोनों प्रकार के (वैदिकमार्ग और भक्तिमार्ग के) तत्वों से भगवान् की सुन्दरता का निरूपण किया है ॥२८॥

आभास—पुनर्भगवन्तं सर्वपुरुषार्थोपयोगित्वेन सर्वाश्रयणीयत्वेन च निरूपयति। भगवन्तं कल्पवृक्षत्वेन वर्णयति—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में कल्पवृक्ष रूप से भगवान् का वर्णन करते हैं कि जैसे कल्पवृक्ष सकल पुरुषार्थ सिद्ध करने से सर्व प्रकार का आश्रय है वैसे भगवान् भी सर्व पुरुषार्थ प्राप्ति कराने में उपयोगी होने से सर्व का आश्रय करने योग्य हैं।

श्लोक—**परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेकपर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम्।**
अध्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रमहीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—बाजूबन्द में जड़ी हुई बहुत मूल्यवान उत्तम मणियों से ढके हुए हस्त-रूप दण्डों से एक सहस्र शाखा वाले, जिसके मूल का पता नहीं ऐसे अथवा प्रकृति का भी जो स्वयं मूल है ऐसे शेष की फणों ने जिसके स्कन्ध का स्पर्श किया है ऐसे भुवनरूप उत्तमवृक्ष भगवान् के दर्शन किये ॥२९॥

सुबोधिनी—पराध्यति। **पराध्या** अमूल्याः **केयूरे ये मणि प्रवेकाः**, तैः पर्यस्ता ये दोर्दण्डाः, तैः-कृत्वा **सहस्रं शाखा** यस्य। पूर्वं तदेव रूपं शयानमुपलभ्य, पुनः परिदृश्यमाने तामवस्थां परित्यज्य,

रूपान्तरेण प्रदर्शितवान्। **'वृक्ष इव स्तब्धो दिवितिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'** इति श्रुतेस्तादृशं रूपं ब्रह्मत्वज्ञापनाय प्रदर्शितमिति तदनुवर्ण्यते। वृक्षत्वेऽप्यलौकिकोऽयं वृक्षः। **केयूरं** कङ्कणोपरि हस्ताभरणम्, तेनाऽलंकृता हस्ताः। तत्रत्यानां मणीनां प्राधान्येन कीर्त्तनम् तत्तेजः सर्वमेव हस्तं व्याप्नोतीति। शतबल्शाः सर्वे वृक्षा इति तद्धावृत्त्यर्थं सहस्रशाखमित्युक्तम्। अनेन प्रमाणात्मकता च निरूपिता। उत्थितोऽयं भगवान्, न तु शयानः; वृक्षतुल्यत्वात्। **पर्यस्ता** इति नानाविधकार्यकर्तृत्वम्। अतोऽस्य सृष्टावुपयोगः। बाहूनां दण्डत्वं मर्यादारूपत्वान्नियामकख्यापनार्थम्। अत्राऽऽभरणानि कर्माणि, तेषां **प्रवेको** नित्योत्कृष्टत्वममूल्यता च; स्वत एव ध्यानप्राप्तत्वात्, अन्यथा दानप्राप्त्यपेक्षया क्रयप्राप्तमुत्तममेव। एवं तस्य बाहूनां शाखात्वेन वृक्षत्वं निरूप्य मूलतो वृक्षत्वं निरूपयति—**अव्यक्तमूलमिति**। इतोऽप्यग्रेऽन्वेषणं न कर्त्तव्यम्, यतस्तस्य मूलमव्यक्तम्, अनाविर्भूत एवाऽऽविर्भूत इति। प्रकृतिं केचिदाहुः। तदाप्यव्यक्तस्य मूलमिति व्याख्येयम्, अतः परं नेत्यर्थः। **भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रमिति**। अङ्घ्रिपाणामिन्द्रो वृक्षश्रेष्ठः। भुवनान्येव अङ्घ्रिपेन्द्रः, अत एव प्रत्यब्दं कल्पा भिन्ना भवन्ति। इयमुत्तरकाण्डे मर्यादा। अव्यक्तमूलमिति **प्रमाणम्**, द्वितीयं प्रमेयम्, तृतीय फलमिति —कल्पवृक्षत्वम्, जगत्कर्तृत्वम्, दुर्ज्ञेयत्वं च निरूपितम्। **अहीन्द्रभोगै**। शेषफणैरधिवोतो वलशो यस्य। चन्दनवृक्षे सर्पास्तिष्ठन्ति, तथाऽत्रापि; शाखास्कन्धेष्वेव, न तु ब्रह्मणि ॥२९॥

व्याख्या—बाजूबन्द से जड़ित, बहुमूल्यवान मणियों से वेष्टित हस्तरूपदण्डों से जिसकी एक सहस्र शाखाएँ हुई हैं ऐसे भगवान् के उस ही स्वरूप को पौढ़ा हुआ देखा, ब्रह्मा फिर इस स्वरूप को ध्यानपूर्वक चारों तरफ जब देखने लगा, तब भगवान् उस अवस्था का परित्याग कर ब्रह्मा को रूपान्तर से दर्शन देने लगे 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इस श्रुति में कहे हुए रूप को मैं ब्रह्म हूँ, यों ज्ञान कराने के लिए दिखाया जिसका अब वर्णन करते हैं। वृक्ष होते हुए भी यह वृक्ष लौकिक नहीं है किन्तु अलौकिक वृक्ष है।

कङ्कणों के ऊपर जो हस्त का आभरण धारण किया जाता है उसको 'केयूर' कहते हैं, लोक भाषा में उसको बाजूबन्द कहते हैं उससे बाहू अलंकृत थे, बाजूबन्द की मणियों का मुख्य रूप से कीर्तन करने का कारण यह है कि उनका तेज ही समग्र हस्त पर फैल रहा है, समस्त वृक्ष एक सौ शाखा वाले होते हैं किन्तु यह अलौकिक वृक्ष है इसलिए यह एक हजार शाखा वाला कहा है, इस विशेषण से यह भी सूचित किया है कि यह 'प्रमाणरूप' है। यह भगवान् पौढ़े हुए नहीं किन्तु वृक्ष के समान होने से उठे हुए है। हस्त अलंकृत होने से यह सूचित करते हैं कि हम अनेक प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं। इस कारण से इस रूप का सृष्टि की रचना में उपयोग है, बाहू मर्यादा रूप होने से नियामक हैं। अतः इसका सूचन करने के लिए इनको दण्डत्व की पदवी दी है, इस स्वरूप में जो आभरण रूप से देखे जाते हैं वे 'कर्म' हैं उनका नित्य उत्कृष्टपन तथा अमूल्यपन दृष्टा के स्वतः ही ध्यान में आजाते हैं क्योंकि वे (कर्म) उत्तम हैं यदि यों न होवें तो दान में मिले हुए

पदार्थ से खरोद किया हुआ ही उत्तम कहा जावे ? इस प्रकार बहुत शाखाओं के होने से उसका वृक्षत्व निरूपण कर अब मूल से उसकी वृक्षता निरूपण करते हैं 'अव्यक्तमूलमिति' इससे भी आगे भगवान् की खोज नहीं करनी चाहिए क्योंकि जड़ (मूल) का पता नहीं उसकी खोज करनी व्यर्थ है कारण कि अप्रकट हो भगवान् प्रकट हुए हैं, यों कहा जाता है।[1]

कितने ही यहाँ 'अव्यक्त' पद का अर्थ प्रकृति करते हैं, यदि अव्यक्त का अर्थ 'प्रकृति' किया जावे तो 'अव्यक्तमूलं' का अर्थ यों करना चाहिए कि 'अव्यक्तस्य मूलं भगवान्' प्रकृति का मूल भगवान् है अर्थात् प्रकृति भगवान् से उत्पन्न हुई है, जिससे भी भगवान् का अन्वेषण इससे आगे करना भी व्यर्थ है।

'भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रामिति भुव वही वृक्ष हैं उनमें यह (भगवान्) श्रेष्ठ वृक्ष है, इस वृक्ष रूप पुरुष से ही प्रत्ये वृक्ष में पृथक्-पृथक् कल्प होते हैं। यह वेद के उत्तरकाण्ड में मर्यादा है 'अव्यक्त-मूल' पद से प्रमाण वर्णन किया है। दूसरा 'प्रमेय' कहा है और तीसरा फल कहा है १- कल्प वृक्षत्व २- जगत्कर्तृत्व ३- दुर्ज्ञेयत्व (कठिनता से समझ में आवे ऐसा रूप) निरूपण किया है। 'अहन्द्रिभोगैः (शेषफणैः) अधिवीतो वल्शो यस्य'। शेष के फणों से स्पष्ट स्कन्ध वाले हैं चन्दन वृक्ष पर सर्प रहते हैं वैसे यहां भी शाखा और स्कन्धों पर ही फणें हैं न कि ब्रह्म पर ॥२९॥

आभास—एवमुत्थितं भगवन्तं निरूप्य उपविष्टं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार उठे हुए भगवान् का निरूपण कर उपविष्ट प्रभु का वर्णन निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**चराचरौको भगवन्महीध्रमहीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम्।**
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गमाविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—चल और अचल पदार्थों का आश्रयस्थान, उत्तम सर्प के बन्धु जल में गुप्त (छिपा हुआ) एक सहस्रमुकुट रूप शिखर वाले, कौस्तुभमणि जिसमें से उत्पन्न होती है ऐसे भगवत् रूप पर्वत को देखा ॥३०॥

१-जिसका भावार्थ है कि भगवान् तो सदैव प्रकट ही हैं वह कैसे प्रकट हुए हैं कहा जायगा ? केवल स्वेच्छा से दर्शन नहीं देते हैं जब इच्छा होती है दर्शन दूँ तब दर्शन देते हैं दर्शन होने पर कहा जाता है कि प्रभु प्रकटे हैं, (अनुवादक)

२-प्रत्येक कल्प में अनेक तरह के ब्रह्माण्ड रूप वृक्षों के करने से आप उस रूप के कारण भी दुर्ज्ञेय हैं।

सुबोधिनी—चराचरौक इति। उपविष्टेषु पर्वतः स्थिरः, स च स्थावरजङ्गमानामाश्रयो भवति। भगवानेव महीध्रः। भूमिधारणासाम्याच्च अहीन्द्रस्य बन्धुः, अहीन्द्र एव वा बन्धुर्बन्धनरूपो यस्य मन्दरस्य। सलिलेन समुद्रेण उपगूढो भवति मैनाकादिः। एवमुपविष्टे भगवति चतूरूपता निरूपिता। सर्वाश्रयो जीवनहेतुः; सर्वोद्धारकः संसारात्; अलौकिकभक्तिरसपाययिता; भीतानां शरणभूतश्च, सुसेव्यो वा। किञ्चं, उपरिभागे शिखरोपरिस्थितसुवर्णैः किरीटयुक्त इव। किरीटानां साहस्ररूपाणि हिरण्यशृङ्गाणि यस्य। आविर्भवत् कोस्तुभरत्नं गर्भे यस्य। मध्योपरिभागौ वर्णितौ, महाराजत्वाय रत्ननिधित्वाय च ऐश्वर्यं लक्ष्मीश्च वर्णिता ॥३०।

व्याख्या—बैठे हुए पदार्थों में पर्वत स्थिर है अर्थात् सदैव बैठे हुए रूप से दर्शन देता है इसलिये वह स्थावर और जङ्गम दोनों पदार्थों का आश्रय होता है, भगवान् ही प्रर्वत रूप है, कारण कि भूमि को जैसे पर्वत धारण करता है वैसे प्रभु भी धारण करते हैं अतः सर्पोत्तम (वासुकि) के बन्धु हैं अथवा अहीन्द्रही (वासुकि ही) बन्धु (बन्धन रूप जिसका मन्दराचल का) है। इससे भगवान् का मन्दराचल रूप वर्णन किया। मैनाकादि पर्वत समुद्र के जल में गुप्त है। यों भगवद्रूप पर्वत का उपविष्टरूप ४ प्रकार से कहा है। १- सर्व के आधार रूप २- जीवन का कारण रूप (अन्नादि को उत्पन्न करने से) ३- संसार में से सर्व (शत्रु मित्र आदि) के उद्धारक ४- अलौकिक भक्ति रस का पान कराने वाले अथवा भीतों (डरे हुवों) को शरण देने वाले एवं सरलता से सेव्य। किन्तु ऊपर के भाग में शिखरों के ऊपर रखे हुए सुवर्णों से मानो मुकुट धरे हुए हैं यों दीखते हैं, पर्वत पर जो हजार सोने के शृंग (शिखर) थे वे मानो भगवद्रूप पर्वत के सहस्र सुवर्ण मुकुट थे (श्रुति में पुरुष (भगवान्) को सहस्र शीर्षा कहा है) जिसके मध्य से कौस्तुभ रत्न प्रकट हुआ है इससे मध्य और ऊपर के भाग का वर्णन किया है, भगवान् के महाराजः एवं रत्न निधि होने से यह सूचित किया है कि भगवान् में ऐश्वर्य और लक्ष्मी दोनों हैं ॥३०॥

आभास—एवं बहिःस्थाने शयानमुत्थितमुपविष्टमुक्त्वा, मार्गत्रयरूपाणि च निरूप्य, अन्तःस्थितं रूपं निरूपयन् मूलरूपं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार बाहर के स्थान में पौढ़े हुए उठे हुए तथा बैठे हुए रूपों को कहकर और तीन मार्गों के रूपों का 'पुंसां' श्लोक २६-२७ में निरूपण कर अब इस श्लोक में अन्तःस्थित (भीतर विराजमान) स्वरूप का निरूपण करते हुए मूलरूप का वर्णन करते हैं—

श्लोक—निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम्
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—जिसकी पुनः-पुनः आवृत्ति (पाठ) हो रही है ऐसे वेदरूप भ्रमरों की कान्तिवाली एवं अपनी कीर्ति से परिपूर्ण बनमाला से सुशोभित कण्ठ वाले (हरि)

की तीन अवस्थाओं के कारण सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्नि के लिए जिसके समीप जाना नहीं हो सकता है ऐसे तथा जिसके चारों तरफ नाश करने वाले फिर रहे हैं जिससे भी उसके समीप पहुँचना कठिन है ऐसे हरि के दर्शन किये ॥३१॥

सुबोधिनी—निवीतमिति। तथा तथा दर्शनात्तथा तथा निरूपणम्। **आम्नायमधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालया निवीतम्**। मूलभूतं भगवतः पुरुषरूपं निवीतमिति मनुष्यधर्मत्वान्निवीतं कण्ठलम्बितम्। **आम्नाय** आवर्त्यमानो वेदः। ए एव मधुव्रतास्तेषां श्रीर्यत्र। ते नीलास्तामसा इव; स्वकीर्तिः शुक्ला सात्त्विकी वा; "**आपादलम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता। तुलसीपुष्परचिता नवरत्नैर्विराजिता**" रूपेण रःजसीव। मायैषा प्रवाहहेतुः। कीर्तिमयीति भक्तिहेतुर्मर्यादाहेतुश्चाऽऽद्या, मर्यादापुष्टयोर्धर्मत्वं प्रवाहाश्रयत्वात्। मूलमेतादृशमिति ज्ञाते तदन्तरंगैभजनं सेत्स्यतीति। नैते तस्य सहजा धर्माः, किन्तु प्रमाणबलकल्पिता एव, सहज तु सर्वेषां दुःखहर्तृत्वम्। तदाह—**हरिमिति**। सङ्घाते स्थितस्य तत्रागमनार्थं हेतुरूपमाह—**सुर्येन्दुवाय्वग्न्यगमिति**। एते सूर्यादयः कर्णिकायामावरणभूताः, एतैर्विद्यमाने भगवत्प्राप्तिर्न भवतीति दिनरात्रिव्यवस्थया कालातिक्रमार्थम्। अवस्थात्रयेण योगेन कर्मणा वा भगवान्न प्राप्यत इति। तथा तत्त्वैरपि साङ्ख्येन। तदाह—**परिक्रमत्प्राधनकैर्दुरासदमिति**। परितः क्रमन्तीति तेषामप्यावरणत्वं निरूपितम्। प्रधने उपयुक्तानि प्राधनिकानि चक्रादीनि, तैर्दुरासदम्। कालात्तिक्रमो ज्ञानेन, अवस्थातिक्रमश्च; योगेन वाय्वतिक्रमः; कर्मणा चाऽग्न्यतिक्रमः; पृथिवीजलातिक्रमस्तूक्त एव ज्ञानभक्तिभ्याम्; तत्त्वातिक्रमस्तु साङ्ख्येन; एवं पञ्चपर्वया विद्यया सर्वातिक्रमः। एतैरेवाऽप्राप्तिरित्येके। तदा पञ्चाऽप्येतानि त्यक्तव्यानि, स्वरूपे गत्वा भगवान् पश्चात्प्राप्तव्यः ॥३१॥

व्याख्या— ब्रह्मा को भगवान् के दर्शन एक प्रकार से नहीं हुए थे, पृथक-पृथक प्रकार के हुए थे। अतः ब्रह्मा ने जिस समय जैसे-जैसे दर्शन किये उस-उस प्रकार वर्णन किया है। १- जिसकी पुनः-पुनः आवृत्ति (पाठ) हो रही है ऐसे वेदरूप भ्रमरों की कान्तिवाली एवं अपनी कीर्ति से परिपूर्ण वनमाला से सुशोभित कण्ठ वाले प्रभु के दर्शन किये, भगवान् का मूलभूत रूप पुरुष स्वरूप है अतः मनुष्य धर्मत्व से माला कण्ठ में लटकाई अर्थात् धारण की है, जिस माला से पठित वेदरूप भ्रमरों की शोभा प्रतिष्ठित है, वे भ्रमर काले होने से तामस जैसे होते हैं, अपनी कीर्ति रूप माला श्वेत वा सात्विकी है "आपादलम्बिनीमाला वनमाला प्रकीर्तिता तुलसी पुष्प रचिता नवरत्नैर्विराजिता" रूपेणराजसीव,' जो माला तुलसी पुष्पों (दलों) से रची हुई होती है और पाद पर्यन्त लम्बी हो तथा नवरत्नों से सुशोभित है उसको वनमाला कहते हैं-- वह रूप से श्वेत जैसा होने से राजसी जैसी थी।

यह माला माया रूप होने से प्रवाह का कारण है, कीर्तिवाली होने से भक्ति का कारण है जिसके गुण पहले कहे हैं वैसी पहली माया मर्यादा का कारण है, मर्यादा तथा पुष्टि धर्मत्व

(गुणपन) प्रवाहराश्रय के कारण है, वनमाला का स्वरूप त्रिविध (तीन प्रकार के) प्रवाहों को उत्पन्न करने वाला है, यों जान लेने पर उसके अन्तर्गत मर्यादा और पुष्टि धर्म रूप अङ्गों से भजन बन सकेगा। इस कारण से ही यहां माला का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है ये गुण भगवान् के सहज (स्वाभाविक) नहीं है किन्तु प्रमाण बल से उनकी कल्पना की गई है भगवान् का सहज धर्म (गुण) तो दुःख हरण ही है यह भाव 'हरि' शब्द नाम से प्रकट किया है।

सङ्घात में स्थित जीव भगवान् के पास नहीं पहुँच सकता है जिसका कारण 'सूर्येन्दु वायुवग्न्यगमम्' पद से कहा है कि ये सूर्य, वायु, चन्द्र और अग्नि कर्णिका में आवरण रूप है जिनकी विद्यमानता में भगवत्प्राप्ति नहीं होती है जिसका भावार्थ प्रकट करते है कि काल के अतिक्रमण के लिये सूर्य और चन्द्र द्वारा दिन और रात्रि की व्यवस्था की है, दिन और रात्रि में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं होती हैं इन अवस्थाओं के योग और कर्म से भगवत्प्राप्ति नहीं होती है वैसे ही तत्वों से अर्थात् सांख्य से भी भगवत्प्राप्ति नहीं होती है। इस आशय को 'परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम्' इस पंक्ति से प्रकट करते हैं। जो नाशकर्ता तत्व चारों तरफ फिरते हैं वे भी आभरण रूप होने से नाश करने में, रुकावट में चक्र रूप हैं उनसे भगवत्प्राप्ति कठिन है जिससे भगवत्प्राप्ति नहीं होती है। ज्ञान से काल एवं अवस्था का अतिक्रमण होता है, योग से वायु का अतिक्रमण होता है, कर्म से अग्नि का अतिक्रमण होता है, शेष ज्ञान और भक्ति से पृथ्वी तथा जल का अतिक्रमण तो कहा ही है, तत्वों का अतिक्रमण तो सांख्य से होता है, इसी तरह पांच पर्वा विद्या से सबका अतिक्रमण होता है, श्रीधरजी के सिवाय किन्ही टीकाकारों का मत 'एतैरेवाऽप्राप्तिरित्येके' पंक्ति से दिखाते है कि वे टीकाकार कहते हैं कि इनसे ही भगवत्प्राप्ति नहीं होती है। यदि यों हो तो तब इन पांचों का भी त्याग कर देना चाहिये, स्वरूप में प्राप्त होकर अर्थात् स्वरूप को प्राप्तकर (समझकर) अनन्तर भगवान् को प्राप्त करना चाहिये ॥३१॥

आभास--एवं भगवति ज्ञातेऽन्यत्सर्वं स्वत एव ज्ञातवित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के जानने पर अन्य सर्व स्वतः जानने में आ जाता है—

श्लोक--**तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोजमात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च।**
ददर्श देवो जगतो विधाता नाऽतः परं लोकविसर्गदृष्टिः ॥३२॥

श्लोकार्थ—उसी ही समय में उसके (भगवान् के) नाभिरूप सरोवर में उत्पन्न कमल उस पर बैठे हुए अपने को, जल को, वायु को और आकाश को देखा तब वह देव जगत् का विधाता (बनाने वाला) ब्रह्मा कहा गया, इसके बाद उसकी जगत् की रचना में ही दृष्टि गई ॥३२॥

सुबोधिनी—**तर्ह्येवेति**। तस्मिन्नेव क्षणे, । तस्य नाभौ सरोवररूपे, उद्भूतं सरोजं पद्मम, तत्र

स्थितमात्मानम्, बहिः स्थितमम्भः श्वसनं च, वियदाकाशञ्च। पृथिवी पद्ममेव, तेजो भगवानेव स्वस्मिन्विद्यमानः। तदा पञ्च भूतानि दृष्टानि तान्यपि स्वदेह एव। एवं देहे सर्वं दृष्ट्वा **जगतो विधाता** जातः, अतः परं ब्रह्मभूतो न जात इत्यर्थः। उभयोरप्येतद्रूपं हेतुभूतम्, यतोऽयं लोकविसर्गे दृष्टिर्यस्य तादृशः ॥३२॥

व्याख्या—उस ही क्षण में उसके नाभिरूप सरोवर में उद्भूत कमल को, उस पर स्थित अपने को, और बाहर स्थित जल, वायु और आकाश को देखा। पृथ्वी पर कमल ही है। तेज अपने में विद्यमान भगवान् ही हैं तब पाँचभूत भी अपनी देह में ही देखे, यों सब अपनी देह में देखने के कारण जगत् का विधाता (बनाने वाले = ब्रह्मा) बने, इसके बाद केवल ब्रह्म रूप न हुआ किन्तु यह ब्रह्म रूप दोनों[1] का कारण रूप हुआ। क्यों कि अब लोक रचना में इस की दृष्टि है इसलिये जीववत् भी है- जिससे ब्रह्मा को समष्टि रूप जीवात्मा कहते हैं॥३२॥

आभास—ततः किं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—अनन्तर ब्रह्मा ने क्या किया ?

श्लोक—स कर्मबीजं रजसोपरक्तः प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्यमव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥३३॥

श्लोकार्थ—प्रजा के उत्पादन की इच्छा वाले रजोगुण से आरक्त हुए (ब्रह्मा) इतना ही कर्म बीज देखकर सृष्टिरचना में सन्मुख (तत्पर) हुए। यद्यपि सृष्टि रचना में तत्पर हुए किन्तु इस कार्य का मार्ग स्पष्ट नहीं देख सके इसलिए जिससे वह मार्ग ध्यान में आ जावे, उस स्तुति योग्य भगवान् की स्तुति करने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी—**स कर्मबीजमिति। कर्मबीजामयदेव दृष्ट्वा अस्तौदिति** संबन्धः। कर्मणि कार्ये जगत्करणे एतदेव बीजम्; भगवान्, पञ्चमहाभूतानि च, षण्णाँ वापे जगद्भवति। ननु चेतननिर्मिर्णेच्छया प्रवृत्त इति न बीजमात्रेण कार्यम्, किन्तु रजोऽप्यपेक्ष्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—**रजसोपरक्त इति**। रजोगुणेन उप समीपे रक्तः। स्वयमपि रजोगुणभूतो जात इत्यर्थः। **इयदेव दृष्ट्वेति**। क्रियाज्ञानं तस्य न जातम्, न हि रजोबीजाभ्यामेव किञ्चद्भवति। वपनं कर्षणं पूर्वाङ्गम्। अव्यक्ततया विकृतं वर्द्धनं जीवदानं च यावन्न ज्ञायते, तावत्कार्यं न सेत्स्यतीति चत्वारोऽर्थाः प्रार्थनीयाः, तद्दाने च स्तोत्रं हेतुभूतमित्यस्तौत्। मोक्षार्थतां व्यावर्तयति। **विसर्गाभिमुख इति**। भगवता स विसर्गसंमुखः कृतः, विसर्गमेव करिष्यामीत्यध्यवसाययुक्तः। अत एव तम्, येनैवाऽयमेवं कृत इति। तर्हि स्तोत्रं किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह **ईड्यमिति**। स सर्वो स्तुत्यः, स्तोत्रानन्तरं प्रसन्नो जात एव प्रार्थनयिः। नन्वन्यत्स्वयं जानातु, वेदाश्च साधनोपदेष्टारः सन्ति,

---

१—ब्रह्म की स्थिति का तथा पहले की अज्ञानावस्था का। 'प्रकाश'

कि भगवतेत्याशङ्क्याऽऽह-- **अव्यक्तवर्त्मन्य भवेशितात्मति**। अव्यक्तमार्ग एव अभिनिवेशितान्तःकरणः। न हि कुम्भकारवत् स्पष्टतया जगत्कर्तुमिच्छति, किन्तु योनौ बीज स्थापयित्वा तत्र सर्वं कर्तुवाञ्छति। नह्येतद्भगवत्कृपाव्यतिरेकेण सम्भवति। चित्तं च तत्रैव प्रविष्टम्, न प्रकारान्तरेण कर्तुं वाञ्छतीत्यर्थः ॥३३॥

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्षमण भट्टात्मज श्रीवल्लभ दीक्षित विरचितायां तृतीय स्कन्धे अष्टामाध्याय विवरणम्।

व्याख्या—कर्मबीज इतना ही है यह देखकर केवल इतने से कार्य सिद्धिपूर्ण नहीं होगी। इसलिये भगवान् की स्तुति करने लगे यों सम्बन्ध है। मुझे जो जगत् रचना का कार्य करना है उसमें भगवान् और पंचमहाभूत ही बीज हैं इन ६ के बोने पर (मिलाने पर) जगत् बनता है, मैं चेतन के निर्माण में प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये केवल बीज से कार्य न बनेगा, किन्तु रजोगुण की भी आवश्यकता है, यों विचार कर 'रजसोपरक्तः' स्वयं रजोगुणरूप हो गये। केवल बोज देखा और आप रजोगुणी बने किन्तु रजोगुण और बीजमात्र से ही कुछ न हो सकता है, बोना तो प्रथम अङ्ग है, गुप्त प्रकार से उसमें अदला बदला हो, बढ़ना तथा जीव दान इत्यादि क्रिया का जब तक मुझे विज्ञान न होगा तब तक मुझसे कार्य सिद्धि न हो सकेगी, इसलिये चार अर्थों की प्राप्ति के लिये प्रभु को प्रार्थना करनी चाहिये प्रभु इनका दान करें जिसके लिये प्रभु का स्तोत्र (स्तुति) करते हैं।

विसर्गाभिमुखं' ब्रह्मा का विशेषण देकर यह सूचित किया है कि ब्रह्मा को मोक्ष की इच्छा नहीं थी क्योंकि सृष्टि रचना की इच्छा वाले थे जिसमें हेतु यह है कि भगवान् ने उनको विसर्ग के सन्मुख किया था इसलिये विसर्ग (सृष्टि ही) करूंगा, ऐसे निश्चय मन वाले हुए थे, ऐसे निश्चय मन वाले जिसने मुझे बनाया है उसको प्रार्थना करूं तो स्तोत्र (स्तुति) क्यों करते हो? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'ईड्य' वे प्रभु स्तुति करने के योग्य हैं सब (देवादि भी) इनकी स्तुति करते हैं। स्तुति करने से जब प्रसन्न हो जावे तब ही प्रार्थना करनी चाहिये

अन्य सर्व ब्रह्मा को स्वयं जान लेना चाहिये क्योंकि साधन का उपदेश देने वाले वेद मौजूद ही हैं फिर भगवान् से क्या? जो उनकी स्तुति और प्रार्थना की जावे? इस शंका का समाधान करते है कि 'अव्यक्त वर्त्मन्यभिवेशितात्मा इति' ब्रह्मा ने जिस कार्य करने में अन्तःकरण लगाया है उस कार्य का मार्ग कुम्भकार की तरह स्पष्ट नहीं है, किन्तु ब्रह्मा बीज को योनि में स्थापित कर उसमें से सब पैदा करना चाहते हैं। इस प्रकार का यह जगत् कार्य बिना भगवान् की कृपा के नहीं बन सकता है और चित्त उस प्रकार से जगत् की रचना में लगा होने से अब अन्यथा दूसरे प्रकार से बनाना नहीं चाहते हैं यों तात्पर्य है ॥३३॥

इति श्री मद्भागवत महा पुराण के तृतीय स्कन्ध के अष्टम् अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्री हरि : ।

विनम्र निवेदन

श्री मद्भागवत महापुराण के दशम एवं एकादश स्कन्ध के प्रथम चार अध्याय और पाँचवे अध्याय के प्रथम दा श्लोकों को श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद पांचवें अध्याय तक प्रकाशित हुआ है। प्रश्चात् इस महापुराण के शेष स्कन्ध प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय जिन की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका उपलब्ध है, इन तीनों में सबसे विशालकाय तृतीय स्कन्ध है, इससे उसका प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है जिसके प्रथम आठ अध्यायों का यह प्रस्तुत ग्रन्थ है। निस्सन्देह इस में क्रम भग हुआ है। परन्तु वह तो इस साहित्य के प्रकाशन के प्रारम्भ में ही हो गया था जबकि समिति का बहुमत प्रथम स्कन्ध से प्रारम्भ करने के पक्ष में था परन्तु सर्व प्रथम मनोरथी गो. वा. नन्दलाल जी मानधना के मनोरथानुसार दशम स्कन्ध का प्रकाशन परमोदार पूज्यपाद गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज संस्थाध्यक्ष को विशेष आज्ञा से प्रारम्भ किया गया। मनोरथी के इस क्रम को भंग करने के मनोरथ का कारण यह था कि उनने यह समझ लिया था कि मेरो दस हजार रुपयों की आर्थिक सेवा से एक पुस्तक का भी प्रकाशन हो तो जितना भी साहित्य छप सके वह हमारे परमाराध्य प्रभु श्री कृष्ण की प्रत्यक्ष लीला चरित्र का ही हो जिससे दशम स्कन्ध ओत प्रोत है। वे लीलाएं निरोध-सिद्ध है। क्योंकि श्री भद्भागवत भगवत्स्वरूप का यह स्कन्ध हृदय हैं जिसके स्वस्थ होने से ही शरीर की सार्थकता हो सकती है उन लीलाओ का रहस्य महाप्रभु जी ने समझाने की जो हम जीवों पर महान् कृपा की है उस रसकणिका का कुछ आस्वादन तो हम भी ले सकें।

आर्थिक सेवा में उनका दृष्टि कोण था कि मेरी यह अकिंचन सेवा है। अन्य करें या कितनी करें इससे अपना क्या प्रयोजन। वास्तव में सेवा यही है। एक सद् गृहस्थ होते हुए भी मुझ जैसे अकिंजन के सामान्य कथन पर इतनी महान् सेवा कर देना महाप्रभुजी की असीम कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसका अनुभव मुझे अब हो रहा है। कुछ करोड़पति वैष्णव महानुभावों से एक हजार रुपया भी पहली मांग पर नहीं मिला यह जानते हुवे कि हमारी सम्प्रदाय का यह सर्वोत्तम साहित्य है।

यह सुनकर कि श्री सुबोधिनी जी के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन हो रहा है, स्वतः रु. १००१) की सेवा भी आई है ऐसे भगवदीय भी हैं जिन्होंने निवेदन करने मात्र पर ही यह सेवा की है।

मुद्रण-कार्य को हर प्रकार से सुव्यवस्थित करने के प्रयास पर भी मुद्रणालय समय पर कार्य कर देने में असमर्थ ही रहा इसे हरीच्छा जान कर ही सन्तोष करना पड़ रहा है।

तदीयजन कृपाकांक्षी

नन्ददास (रामचन्द्र)

मंत्री

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय १ से ८

शुद्धि–पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१६	भगवद्रुत्वेन	भगवद्रुपत्वेन
३	१७	मात्रे न्द्रियाधियां	मात्रे न्द्रियद्धियां
३	२४	कयायां	कथायां
४	६	भगवद्गण	भगवद्गुण
४	१४	मरणं	स्मरण
४	१६	तत्कय	तत्कथा
८	१३	मुखे	मुझे
८	२६	.....विदुरस्य	यदात्विति विदुरस्य
१२	२४	एसा सभी	ऐसी सभा
२२	१०	गाता	बताता
२५	५	कृमशः	क्रमशः
२५	७	वले	चले
२६	२२	बतानि	ब्रताति
२६	२४	इसोक	श्लोक
३३	७	आलिङ्वन	आलिङ्गन
३६	२५	अग्रसेन	उग्रसेन
४०	६	भातर	भीतर
४४	८	दक्षमिर	दक्षमभिर
४४	६	धत्क्रात	वक्रात
४४	२६	ने	में
५२	२६	यहां	कहां
५२	३१	समझौते	समझाते
५३	८	द्धवजी	उद्धवजो
५४	४	से	ने
५४	५	गया	×
५७	२५	लक्षणा	लक्षणा
५७	२५	भक्त का प्रेमा	भक्त का विषय प्रेमा
६५	२६	अयोन्य	अयोग्य
६६	१३	भेड़की	×
६६	१४	तरह जिनकी	×
		दृष्टि तृप्त	×
		दृष्टिर्योषाम	×
६६	२८	यनर्त्द	यन्मर्त्य
७८	२६	नयवाभिराम	नयनाभिराम
७८	२६	पा	पान
७६	६	लावतयमृत	लावण्यामृत
८१	४	भृनान्नो	भृतानो
६०	२३	चारन्नुगान	चारयन्तनुराग
६२	१३	सध्वयं	साध्वयं
१०७	१२	कान	काल
११०	२०	घातहन्	घातयन्
११३	७	प्रारम्भ	प्रारब्ध
११७	४	चत्स्वामी	चेतस्वामी
१२६	११	क्रीडद्धिक	क्रीडद्धीर्य
१२७	१८	गह	गृह का
१३८	६	?	१
१४०	१	जाप	आप
१४६	२८	पानति	पान्तीति
१४६	११	सांस्याऽनुरक्त	तस्याऽनु क्त
१४६	११	जनु	ननु
१५१	३०	ते	ने
१५२	२	समुज्य	सायुज्य
१५२	४	सामुज्य	सायुज्य
१५२	५	सामुज्य	सायुज्य
१५२	३०	तस	इस
१५४	२४	जाव	जीव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५६	३३	प्रबूमोमि	प्रवणेमि
१५८	१२	घी विदारि	धीर्वीदामिह्
१६८	१२	विपरी	विपरीत
१६८	१३	दुपाककर्ण	दुपाकर्ण
१७०	२७	उदुर	विदुर
१७३	६	ओपगविनिश	ओपगविनिशां
१७६	८	उद्रव	उद्धव
१८१	१७	द्रर	पर
१८१	१८	॥३६-३६॥	॥३३-३६॥
१८४	१०	हो	होने
१८७	३	सर्व चैव	सर्वत्रैव
१६१	१३	ह्रादि	हृदि
१६५	१७	धक	साधक
१६६	१५	को	थी
२०५	१६	षे	वह
२१०	१३	वौषाख	कौषारव
२१६	१५	मानादि	मानंवादि
२२६	४	व्यषृत	व्यवृत
२४३	१	कीर्तिवरूप	कीर्तनरूप
२४७	१६	भगवाद्	भगवद्
२४८	२	सो	×
२४६	६	साधियाग	समाधियोग
२६६	२१	ताम	तामस
२७१	२६	निरामिद्यन्त	निरमिद्यन्त
२८१	११	कारण	करण
२८१	१८	वत्तियों	वृत्तियों
२६३	२६	क	कर्च
२६७	१	होंगे	×
३००	२०	ों	यों
३०६	२१	स्वततृप्रस्थ	स्वतस्तृप्रस्थ
३१४	२५	यमिास्तम्	यमिरितम्
३२०	१	छठा	सातवां
३२०	१४	रचित	उचित
३२६	२३	सता	सकता
३३४	२५	सुरा	सुख
३३५	२४	गेत्रजे:	गौत्रजः
३३६	२०	त्रात्मजाऽऽते	त्रात्मजाऽऽसते
३४०	१२	अथज्ञान	अर्थज्ञान
३४१	६	कये	कहिये
३४४	२२	मत्री	मैत्री
३४७	१०	वर्ण्यसे	वर्ण्यते
३४६	५	पदथ	पदार्थ
३५०	१८	प्रका	प्रकार
३५२	२५	अत्मध्यानमन्	आत्मध्यानमन्
३५४	१३	ज्ञनी	ज्ञानी
३५७	२	भगवदीम	भगवदीय
३५७	४	दैत्प	दैत्य
३५७	१०	पोठ	पीठ
३६०	२४	संख्यायन्	सांख्यायन्
३६१	२३	जिनका	जिसका
३६२	२५	पुलस्प	पुलस्त्य
३६३	१५	इच्छा	इच्छा
३६६	१२	निवाणार्थ	निवर्णार्थ
३६८	२१	वं दंशो	चिदंशो
३७२	२०	स्वाप	स्ताप
३७४	१६	न भदेशात्	नाभिदेशात्
३७६	१	करना	करता
३८३	१०	हा	हो
३८८	१२	भपवत्स्वरूप	भगवत्स्वरूप
३८८	१४	मार्गों	मार्गे
३६३	७	न त्रो से	नव सूत्रों सें
३६३	८	द.....	दर्शन
३६३	६	वरूप	स्वरूप
३६६	२७	निवीतमाम्नाय	निवतिमाम्नाय
३६७	२४	कति	कीर्ति
३६६	१३	रजसीपरक्तः	रजसोपरक्तः

श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय १ से ८

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
अ–अजस्य जन्मो	४६	आ–आत्मनोऽवसितो	२६७	एवं त्रिलोक	१७६
अजात शत्रो	१६	आत्मानं च	१८१	एवं ब्रुवाणं	३०४
अतो भगवतः	२६६	आत्मानं चाऽस्य	२७६	एव स भगवान्	२१३
अथ तस्याऽभि तप्तस्य	२७१	आत्यन्तिकेन	२८१	एवं संचिन्त्य	११७
अथ ते भ्रातृ	१११	आयामतो	३८७	एष ह्यशेष	२६७
अथते तदनु	१३२	आसीन भुर्व्यां	३५२	क-क एनमत्रोप	२१
अथते भगवल्लीला	२१८	आसां मुहूर्त	१०६	क एष योऽसौ	८७६
अथापि तदभिप्रेतं	१४०	इ–इङ्गितज्ञाः	६२	क कुक्षिनो	१०१
अद्यापि कीर्तयामि-	२६३	इति तासां	२५६	कच्चिच्छ्वं	३६
अद्राक्षमेकं	१४१	इति भागवतः	५३	कच्चित्कुरुणां	३५
अनिलेनाऽन्वितं	२३१	इति सह विदुरेण	१७३	कच्चित्पुराणौ	३४
अनिलोऽपि विकुर्वाण	२३०	इत्थं व्रजन्	२७	कच्चिद्गरूथाधि	३५
अनुवृतानां	३४२	इत्यांहतोक्त	१५५	कच्चित् सुखं	३६
अन्नं चोरुरसं	१२६	इत्यावेदित	१६४	कच्चिद्धरे	३७
अन्यानि चैह	३१	इत्युद्धवात	१६८	कच्चिद्यशो	४३
अपि स्व दोर्भ्यां	४१	इत्यूचिवांस्तत्र	१६	कच्चिद्बुध	३८
अपि स्विदन्ये	४१	इमं लोकममुं	१२२	कदम्बकिञ्जलक	३६२
अपि स्विदास्ते	४०	उ–उत्तरायां धृतः	११८	कर्णावित्स्य	२७६
अयाजयत्	६२	उदप्लुतं	३६४	कर्मण्यनीहस्य	१५८
अयोजयत्	११६	ए–एकान्त लाभं	२६४	करोति कर्माणि	१६४
अर्था भावं	३३०	एतत्क्षत्त र्भगवतो	२६२	कस्तृ प्नुयात्तीर्थ	२०४
अशेष शंल्केश	३२३	एतस्मिन्	३११	काल मागध	१०६
अस्माल्लोकादुपरते	१७७	एतांन्मे पृच्छतः	३४४	काल मायांश	२३०
अस्त्राक्षीत्	३०६	एते देवाः	२३२	काल वृत्या तु	२२५
अहो पृथाऽपि	४४	एते वर्णाः	२६०	काल संज्ञां तदा	२५६
अहो बकीयं	८२	एतेषा मपि	३३६	कालिन्द्याः कतिभिः	१८१
अहं चोक्तो	१३६	एवमेतत्पुरा	४	कालेन सोऽजः	३८२

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
कियान् भुवोऽयं	११३	तथा परे	२४६	देहन्यासं च	१८१
किंवा कृताऽघेषु	४२	तथैव चाऽन्ये	७८	दैवाधिनेषु	१२५
कुत्र क्षतुः	७	तदस्य कौषारव	२१०	दृष्टा भवद्भिः	७८
कृष्णद्युमणि	५६	तमस्य पारे	३८१	द्यूते त्वधर्मेण	१३
कोन्वीशते	१५६	तर्ह्येव तन्नाभि	३६८	द्वारि द्युनद्या	१८५
को वा अमुष्याङ्घ्रि	७५	तल्लोकपद्मं	३७६	ध–धर्मार्थं काम	३४०
कौमारीं दर्शयन्	८६	तस्माद्युगान्त	३७८	धातर्यदस्मिन्भव	२३६
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य	३०६	तस्मिन्महाभाग	१४८	न–ननु ते तत्त्व	१७२
क्रीडन् विधते	१६७	तस्य प्रपन्न	५०	नामाम ते देव	२३६
ग–गां पर्यटन्	२६	तस्याऽग्नि रास्यं	२७२	न ह्यल्पार्थो	८
गुणावतारैः	३३८	तस्याऽनुरक्तस्य	१४६	निधन मुपगतेषु	१७५
गुदं पुंसो	२७७	तस्याऽर्यसूक्ष्माभि	३७४	निमित्तानि च	३४३
चतुर्युगानां	३७३	तस्यैवं रममाणस्य	१२४	निर्भिन्नान्यस्य	२७५
चराचरौको	३६५	तस्यां त्रितस्यो	३०	निर्भिने अक्षिणी	२७५
जनस्य कृष्णात्	१८६	तस्यां स चाम्भो	३७७	निर्भिन्नं तालु	२७४
जोतिषाम्भो	२३१	तान् वै	२४६	निवीतमाम्नाय	३६६
त–ततस्त्वतिव्रज्य	३	तान् शोच्य	२०८	नूनं नृपाणां	४८
ततोनन्दव्रज	८७	तार्तीयेन स्वभावेन	२८२	नैतच्चित्रं	२१५
ततोनिवृत्त्या	३८२	तास्व पत्यान्य	१०७	नोद्धवोऽण्वपि	१७७
ततोऽभवन्	२२६	तेषां मैरेय	१३६	प–पद्भ्यां भगवतो	२८७
ततोवयं	२५४	तेषां सस्थां	३३७	परार्ध्यकेयूर	३६३
ततः कतिपयैः	१२७	तैजसानीन्द्रिया	२२६	परावरेषां	२०२
ततः स आगत्य	६८	त्वचमस्य	२७६	परीतो वत्सपैः	८८
तत्तस्य कैङ्कर्य	८१	त्वं नः सुराणा	२५२	परेणविशता	२६४
तत्तोवयं	२५०	द–दानस्य तपसो	३४०	पादावस्य	२७८
तत्वानां भगवन्नेषां	३४२	दुनोति चेतः	७४	पानेन ते देव	२४८
तत्र स्नात्वा	१२८	दुरापा ह्यल्प	३३२	पार्थांस्तुदेवो	१७
तत्राऽथ शुश्राव	२८	दुर्भगोवत	६१	पाषण्ड पथ	३३६
तत्राहृतास्ता	१०५	देवस्य मायया	६३	पुरामया प्रोक्तमजाय	१५३
तत्साधुवर्य	१६१	देशतः कालतो	१८१	पूर्यां कदाचित	१२६

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
पुरुषस्य च	३४३	मुनिर्विवक्षुः	२०६	येन वा भगवांस्तु	३४१
पुरेषु पुण्योप	५	मुहुर्घृणन्तो	३५८	यैस्तत्त्वभेदैः	१९९
पुल्कोद्भिन्न	५७	मृणाल गौरायत	३८४	यः पञ्चहायनो	५४
पुंसां स्वकामाय	३८८	मेढं तस्य	२७७	व-वर्णाश्रम विभाग	३३८
प्रजापतिनां	३३६	मां खेदयत्येत	७३	वर्ष तीन्द्रे व्रजः	९३
प्रदर्श्याऽतप्त तपसा	६५	य-यच्छ्रद्धया	२४२	वसुदेवस्य देवक्यां	८७
प्रबुद्ध कर्मा	२६३	यतोऽप्राप्य	३०१	वाम ऊरावधिं	१४५
प्रभुः प्रियं	१०३	यत्सानुबन्धे	२४४	विदुरोऽप्युद्धवात्	१८१
प्रयुक्तान भोज	९१	यत्सेवया भगवतः	३१३	विनिर्भिन्नेऽश्विनौ	२७४
प्रेक्षां क्षिपन्तं	३८६	यत्रपुत्रेश्च	३३५	विपन्नान विषपानेन	९२
प्रोक्तं किलैतत्	३५९	यत्र नारायणो	१६७	विशोऽवर्तन्त	२८६
प्रोवाच मह्यं	३६१	यथाकिल	१९६	विश्वस्य जन्म	२४३
ब-बाहुभ्योऽवर्त्तत	२८५	यथा जले	३२०	वेदाऽहमन्तर्मन	१५०
बुद्धिं चाऽस्य	२७८	यदर्थेनबिना	३१९	वैकारिक स्तैजस	२२८
ब्रह्मन कथं	३०४	यदा च पार्थ	१४	श-शनकैर्भगवत्	५९
ब्रह्मशापापदेशेन	१७७	यदा तु राजा	१०	शम्बरं द्विविदं	११०
भ-भगवान् स्वात्म	१३७	यदा सभायां	१२	शरच्छशिकेरेः	९४
भगवानपि	१२०	यदेन्द्रियोपरामो	३२२	शीर्ष्णोऽस्यद्यौर्धरा	२८०
भगवानेक आसेदमग्र	२२०	यदो पहूतो भवनं	१५	श्यामावदातं	१४३
भगवानेक एवैषः	३११	यद्वाग्रयं	६	श्र-श्राद्धस्य च	३४०
भवान् भगवतो	२१७	यद्धर्म सूनो	६९	स स इत्थं चोदितः	३१३
भूतानां नभ	२३२	यन्मर्त्य लीलौप	६६	सइत्थं त्युल्वण	२२
म-मन्त्रेषु मां	१६१	यमाबुतस्वित्	४४	स इत्थमा पृष्ट	३४५
मन्येऽसुरान्	८४	यमाहुराद्यं	३३३	स इत्थमुद्वीक्ष्य	३७९
महतस्वा द्विकुर्वाणा	२२७	यस्मिन दशविधः	३३५	सं एष गोधनं	९०
माण्डव्यशापात्	२१६	यश्च मूढतमो	३२९	स एवमाराधित	१६५
मार्गन्ति यत्ते	२४०	यस्यानुराग	७०	स एव मृषिवर्यो	९
मिथो यदेषां	११४	यज्ञस्य च	३३९	स एष दोषः	१८
मुखतोऽवर्त्तत	२८३	यावद्विलिं ते	२५१	स एष भावः	१५२
मुखेन लोकार्ति	३८९	येन प्रजानामुत	२०१	स कथं	५५

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
सकर्ण	११२	साधुपृष्टं	२१४	सौम्याऽनुशोचे	४५
सकर्म बीजं	३९९	साध्यात्मः	२६९	संछिन्नः संशयो	३२५
स तं महाभागवतं	१६९	साध्वेतद्व्याहृतं	३२६	स्निग्धस्मिता	१२२
सत्त्वं चाऽस्य	२८०	सान्दि पनेः सकृत्	९९	स्मरन् विश्व	२७०
सत्सेवनीयो	३४९	सा वा एतस्य	२२४	स्वमेवर्धु न्युदार्द्रैः	३५६
स निर्गतः	२४	सा श्रद्दधानस्य	२०७	स्वमेवधिष्ण्यं	३५५
स पद्मकोशः	३७५	सुखाय कर्माणि	१८८	स्वयं त्वसाम्याति	७९
समाहुता भोष्मक	१००	सुतं मृधे खं	१०४	स्वशान्तरूपेषु	७२
स मुहुर्त्तं	५६	सृष्टवाऽग्रे महदा	३:३	ह-हस्तावस्य विनि	२७७
सर्वेवेदाश्च	३४५	सेयं भगवतो	३१७	हिरण्यं रजतं	१२८
स वा एष	२२२	सो अनुप्रविष्टो	२६२	हिरण्मयः स	२६५
स वासुदेवाचरं	३३	सोऽन्तः शरीरे	३६७	हृदयं चाऽस्य	२७९
स विश्वजन्म	२१२	सोऽप्यंशगुण	२२७	क्ष-क्षेमं स कच्चित्	३७
स वै निवृत्ति	३२१	सोऽहं हरेः	४७	ज्ञ-ज्ञानं परं स्वात्म	१६२
स वै विश्व	२६६	सोऽहं तर्दृशना	१६६	ज्ञानं परं स्वात्म	१७०
साङ्ख्यायनः	३६१	सोऽहं नृणां	३५१		

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय १ से ८ कारिकानुक्रमणिका

कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ
अ-अतोऽत्र	२	असमासात्प्रधानता	३१५	कार्योपयोगी	१८६
अतः स्थिति	११७	अविर्भूतो हि	९७	कालप्रयुक्ता	२३५
अत्रार्थो	२	उ-उत्तारितस्तु भू	१११	कालादि प्राप्त	३२२
अत्रसवाणि	३०४	ए-एतद्रुपाणि	१३०	किं पुनर्दर्शया	४
अधिकारार्थं	५१	एवं भगवतो	२५८	कृष्णार्थं सृष्टौ	१८५
अधिकारिषु	१	एवं भगवतः	२५७	किया तु	५२
अधिकारे	२	ऐश्वर्यं प्रथमे	३१२	क्रीडा सृष्टि	३१७
अनेकधा	३४८	क-कर्मादि मार्गाः	२	ग-गुणातीतात	३१४
अवस्थामुप मानं	३८४	काम क्रोधो समौ	१०९	च-चतुर्थेह्यदिकारार्थं	१३१
अष्टभिस्सप्तभिः	१३०	कामेन कम	३	चतुर्णां सर्ग	१८५
अष्टमे भगवद्बुद्धि	३४७	कार्यकारण	३१७	चतुर्दशभिरध्यायै	३

कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ
चतुर्भिर्भूमि संस्कार	२३	प्रथमस्य परिहारः	३१५	वसुदेवस्य	८६
ज–जले सामान्य	२४	प्रपन्ने भगवल्लीला	८६	विरुद्धकार्य	३१६
त–त एव बहुधा	१८६	प्रमे ये साधने	१४७	विरोध मात्र	३१५
ततस्तेषां	१८६	प्रत्यक स्त्रोतेऽभ	२६	ष-षड्गुणैश्वर्य संपन्न	५२
ततो गुणानां	३	प्रश्नभिन दन	१८७	षिङ्विधा भगवद्बुद्धि	३८४
ततोमध्ये	१०६	प्रयत्न प्रेरितै	११२	श-शिष्टेषु षटसु	६०
ततोऽत्रयुक्त	२	ब–बुद्धिर्भगवतो	१८६	स–स एव भगवल्लीलां	१८५
तत्त्वतो विषयाः	५२	बुद्धिरतेषां	१८६	सङ्कल्पो निश्चयः	३०३
तत्त्वैस्तु भक्ति	२३४	भ–भक्ति प्रपत्ती	२३५	सर्गश्चसविभूतेश्च	३
तदैव तद्गताः	१३१	भक्तानामेव	१११	सर्व व्यापार राहित्यं	५३
तर्क क्रियाविभेदेन	३४८	भक्त्यूद्रेकोद्धवे	५३	सर्व तत्त्वा श्रयेण	३८४
तस्मादेवं न	१३२	भगवत्कार्य	२३५	सर्वं हि साधनं	१३२
तस्मिनिराकृते	३१३	भूतमात्रेन्द्रिय	२	सामान्य कुशले	५२
तामसे ज्ञान	२३५	भूतमात्रेन्द्रिय	३	सामान्य तो ग्रंथ रूपा	३४८
तीर्थद्वयेन	४	भूताना संस्कृतानां	४	सृष्टौ तु	२३४
तृतियेमध्य	६७	म-मलवत्प्रार्थना	२३६	सरस्वति धर्म	२६
तृतियो ब्रह्मण	३१४	मुख्याधिकारणो	५१	सेवादशाया	११७
त्रयस्त्रि दशथा	१	मृत्योमार्गतो	८६	स्वरूप च गुणाः	१३१
द–दशलीला परे	११६	य-यादृशेर्भगवस्दोगः	३	स्वशक्तिदान	२५७
दशेन्द्रियाणि	६७	यावत्साधन	११७	सारसस्यऽनुग्रवतस्ये	१४६
न–नानाविधानि	१८६	रा-राजसे भक्तिरा	२३५	स्वयुक्त्याभ्रम	३१२
निरुपाधिक	३१४	ल लोकेसर्ग	१	स्वामित्वं सेवको	११६
प–पृष्टार्थ देह	२१४	व-विकल्पो विविध	३०३	ह–हरेरिन्दिय	३०३
पुनर्गुणानां	३८४	विदुरस्य गृह त्यागे	३०	हरे रेव तथा	३४८
पुन्यदेशार्थ	२३	विधानेन परित्यागः	३२२	----	

आश्रय

भरोसो दृढ इन चरनन केरो ।
श्रीवल्लभ नखचन्द्र छटा बिन सब जग माहि अंधेरो ।। १ ।।
साधन और नहीं या कलि में जासों होय निवेरों ।
सूर कहा कहे दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो ।। २ ।।

जोधपुर (राजस्थान)